ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम

[ब्रह्मचर्य के अनुभव का संशोधित
तथा परिवर्द्धित संस्करण]

ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम

[ब्रह्मचर्य के अनुभव का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक—

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

Brahmacharyya is not mere mechanical celebacy, it means complete control over all the sendes and freedom from lust in thought, word and deed, as such it is the royal road to self realisation or attainment of Brahman (ब्रह्म).

प्रकाशक—

एस० एस० मेहता ऐण्ड ब्रदर्स,

६३ सुतटोला-काशी ।

द्वितीय संस्करण] १९३४ [मूल्य ।=)

मुद्रक—
पं० गिरिजाशंकर मेहता,
मेहता फ़ाइन आर्ट प्रेस,
सूतटोला-काशी ।

प्रकाशक के दो शब्द

'ब्रह्मचर्य' विषय पर वही लेखक कुछ लिखने का साहस कर सकता है, जिसने उसका स्वयं कुछ अनुभव प्राप्त किया हो। आज हिंदी में यों तो बहुत-से लेखकों ने इस विषय पर पुस्तकें लिखी हैं, पर महात्मा गांधी कृत इस पुस्तक का महत्व उन सभी पुस्तकों से विशेष है, क्योंकि इसमें उन्होंने अपने स्वयं अनुभव की बातों का ही वर्णन किया है। उन्हें इस व्रत के लेने पर जो-जो दिक्कतें पड़ी हैं तथा जो-जो लाभ मिले हैं, उन सबका इसमें समावेश है।

ब्रह्मचर्य-जीवन को हमारे इस ज़माने के नवयुवक कठिन बताते हैं। पर इसकी महिमा का बखान वही कर सकता है, जिसने स्वयं इसका अनुभव किया हो। महात्मा गांधी आज ४० वर्षों से ब्रह्मचर्य का व्रत लिए हुए हैं। यही कारण है कि उनकी इस पुस्तक का लोगों में काफ़ी प्रचार हुआ है और लोगों ने इस पुस्तक को इतना अपनाया कि १५ दिनों के भीतर ही इसका प्रथम संस्करण हाथो-हाथ बिक गया और हज़ारों की संख्या में इसकी माँग अब भी हमारे पास मौजूद है।

पाठकों से सविनय प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक का काफ़ी प्रचार करावें। यदि वे हमारे इस उद्योग में सहायता देवेंगे तो ऐसे ही अनुभवी विषयों पर स्वयं अनुभवी लेखकों से पुस्तकें लिखवाकर हम शीघ्र-से शीघ्र आपलोगों की सेवा में भेट करेंगे। ॐ शांति! शांति!! शांति!!!

विषय-सूची

ब्रह्मचर्य का अर्थ

(१)

जो मनुष्य सत्य का व्रत लिए हुए है, उसी की आराधना करता है, वह यदि किसी भी दूसरी वस्तु की आराधना करता है, तो व्यभिचारी ठहरता है। तो फिर विकार की आराधना क्योंकर की जा सकती है? जिसकी सारी प्रेरणा एक सत्य की सिद्धि के लिये है, वह संतान पैदा करने या गृहस्थी चलाने के काम में कैसे पड़ सकता है। भोग-विलास से किसी को सत्य की सिद्धि हुई हो, ऐसा एक भी उदाहरण हमारे पास नहीं है।

अहिंसा के पालन को लें, तो उसका संपूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना अशक्य है। अहिंसा के अर्थ हैं, सर्वव्यापी प्रेम। पुरुष का एक स्त्री को या स्त्री का एक पुरुष को अपना प्रेम उत्सर्ग कर चुकने पर उसके पास दूसरे को देने के लिये क्या रहा? इसका तो यह अर्थ हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब पीछे।' पतिव्रता स्त्री-पुरुष के लिये और पत्नीव्रती पुरुष-स्त्री के लिये सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार होगा। इस प्रकार उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता। वह अखिल सृष्टि को अपना कुटुंब कभी बना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ कुटुंब है, या तैयार हो रहा है। जितनी उसमें वृद्धि होगी, सर्वव्यापी प्रेम में उतना ही व्याघात उपस्थित होगा। हम देखते हैं कि सारे जगत् में यही हो रहा है। इसलिये अहिंसाव्रत का पालन करनेवाला विवाह कर ही नहीं सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या हो सकती है!

तो फिर जो विवाह कर चुके हैं, वे क्या करें? क्या उन्हें सत्य की सिद्धि किसी दिन होगी ही नहीं? और क्या वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकेंगे? हमने इसका पथ निकाल लिया है। और वह विवाहित का अविवाहित-सा बन जाना है। इस दशा में ऐसा सुंदर अनुभव और कोई मैंने नहीं किया। इस स्थिति का स्वाद जिसने चखा है, इसका प्रतिपादन वही कर सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता प्रमाणित हुई कही जा सकती है। विवाहित पति-पत्नी का एक दूसरे को भाई-बहन मानने लगना सारी झंझटों से मुक्ति पाना है। संसार भर की सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, माताएँ हैं, लड़कियाँ हैं—यह विचार ही मनुष्य को एकदम उच्च बनानेवाला है, बंधन से मुक्त करनेवाला है। इससे पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी श्री-वृद्धि करते हैं, कुटुंब-वृद्धि करते हैं। विकार रूप मैल को दूर करने से प्रेम भी बढ़ता है; विकार को नष्ट कर देने से एक दूसरे की सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है। एक दूसरे के बीच कलह से संयोग कम होते हैं। जहाँ प्रेम स्वार्थी और एकांगी है, वहाँ कलह की गुंजायश अधिक है।

इस मुख्य बात का विचार करने के बाद और इसके हृदय में प्रवेश पा जाने पर, ब्रह्मचर्य से होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्य-लाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझ कर भोग-विलास के लिये वीर्य-नष्ट करना और शरीर को निचोड़ना कैसी मूर्खता है! वीर्य का उपयोग तो दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति की वृद्धि में है। विषय-भोग में उसका उपयोग करना उसका नितांत दुरुपयोग है। इसी कारण वह तो कई रोगों का मूल बन जाता है।

ब्रह्मचर्य का पालन मनसा-वाचा-कर्मणा होना चाहिए। हर व्रत के लिये यही ठीक है। हमने गीता में पढ़ा है कि जो शरीर

को अधिकार में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पालन करता रहता है, वह मूढ़ एवं मिथ्याचारी है। सबको इसका अनुभव होता है। मन को विकारपूर्ण रहने देकर शरीर को दबाने का प्रयत्न करना हानिकर है। जहाँ मन है, वहाँ अंत को शरीर पीछे लगे बिना नहीं मानता। यहाँ एक भेद समझ लेना आवश्यक है। मन को विकार के अधीन होने देना और मन का अपने आप अनिच्छा से, बलात् विकार को प्राप्त होना, इन दोनों बातों में अंतर है। यदि विकार में हम सहायक न बनें तो अंत में विजय हमारी ही है। हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो अधिकार में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिये शरीर को तुरंत ही अपने अधीन में करने का नित्य प्रयत्न करने से हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। यदि हम मन के अधीन हो जायँ तो शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, तब मिथ्याचार का श्रीगणेश हो जाता है। पर हम कह सकते हैं कि जब तक हम मनोविकार का दमन करते हैं, तब तक दोनों साथ-साथ चलते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन, लगभग असंभव ही माना गया है। इसके कारण की खोज करने से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया गया है। जननेंद्रिय-विकार के निग्रह को ही ब्रह्मचर्य का पालन माना गया है। मेरी सम्मति में यह अपूर्ण और सदोष व्याख्या है। विषय मात्र का निग्रह ही ब्रह्मचर्य है। जो अन्य इंद्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इंद्रिय के निग्रह का प्रयत्न करता है वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें क्या संदेह है? कानों से विकार की बातें सुनना, आँखों से विकार सृष्टि करनेवाली वस्तु देखना, रसना से विकारोत्तेजक वस्तु चखना, हाथ से विकारों को भड़कानेवाली वस्तु का स्पर्श करना और साथ ही जननेंद्रिय को रोकने का

प्रयत्न करना, यह तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने का प्रयत्न करने के समान हुआ। इसलिये जो जननेंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करे, उसे पहिले ही से प्रत्येक इन्द्रिय को उस-उस इन्द्रिय के विकारों से रोकने का प्रण कर ही लेना चाहिए। मैंने सदा से यह अनुभव किया है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से हानि हुई है। मेरा तो यह निश्चित मत है, और अनुभव भी है कि यदि हम सब इन्द्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास करें, इसकी आदत डालें, तो जननेंद्रिय को वश में करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है। तभी उसमें सफलता भी मिल सकती है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है। इसीलिये उसके संयम को हमने पृथक स्थान दिया है।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को हमें स्मरण रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की शोध में चर्या, अर्थात् तत् संबंधी आचार। इस मूल अर्थ से सब इंद्रियों के संयम का विशेष अर्थ निकलता है। जननेंद्रिय के संयम के अपूर्ण अर्थ को हमें भुला ही देना चाहिए।

(२)

इस विषय पर लिखना आसान नहीं है। किंतु मेरे मस्तिष्क में यह प्रबल इच्छा रहती आई है कि मैं अपने पाठकों को अपने अनुभव के विस्तृत भंडार के कुछ अंश से लाभ पहुँचाऊँ। मेरे पास आए हुए कुछ पत्रों ने मेरी इस अभिलाषा को जागृत किया है।

एक मित्र पूछते हैं:—ब्रह्मचर्य क्या है? क्या इसे पूर्ण रूप से पालन करना संभव है? यदि संभव है तो क्या आप पालन करते हैं?

ब्रह्मचर्य का यथार्थ और पूर्ण अर्थ ब्रह्म की खोज करना है। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। अतएव अपनी आत्मा के अंतर्गत प्रविष्ट और उसका अनुभव करने से खोजा जा सकता है। इंद्रियों के पूर्ण संयम विना यह अनुभव असंभव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ मन, कर्म और वचन से सभी समय, सभी स्थानों पर, सभी इंद्रियों का संयम रखना है।

प्रत्येक पुरुष या स्त्री पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सभी वासनाओं से मुक्त है। इसलिये इस प्रकार का व्यक्ति ईश्वर के निकट रहता है और देव-तुल्य है। इसमें संदेह नहीं कि मन, कर्म और वचन से, पूर्ण रूप से, ब्रह्मचर्य का पालन करना संभव है। मुझे यह कहते दुःख होता है कि मैं ब्रह्मचर्य की उस पूर्ण अवस्था तक नहीं पहुँचा हूँ। यद्यपि मैं अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में वहाँ तक पहुँचने का उद्योग कर रहा हूँ। मैंने इसी शरीर से उस अवस्था तक पहुँचने की आशा नहीं छोड़ी है। मैंने अपने शरीर पर नियंत्रण कर लिया है। मैं जागते समय अपने शरीर का स्वामी रह सकता हूँ। मैंने अपनी जिह्वा पर संयम रखने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली है। किंतु विचारों पर संयम रखने में मुझे अभी कई अवस्थाओं को पार करना है। वे मेरी आज्ञा के अनुसार नहीं आते-जाते। इस प्रकार मेरा मस्तिष्क सतत अपने ही विरुद्ध विद्रोह की अवस्था में है। मैं अपनी जागृत घड़ियों में एक-दूसरे से संघर्षण करते हुए विचारों को रोक सकता हूँ। मैं यह कह सक सकता हूँ कि जागृतावस्था में मेरा मस्तिष्क बुरे विचारों से रक्षित रहता है; किंतु सोते समय विचारों के ऊपर नियंत्रण कुछ कम रहता है। सोते रहने पर मेरा मस्तिष्क सभी प्रकार के विचारों, आशातीत स्वप्नों और इस शरीर से उपयुक्त पहले की वस्तुओं की इच्छा से

बहक सकता है। इस प्रकार के विचार या स्वप्न जब अपवित्र होते हैं, तो इनका स्वाभाविक परिणाम होता है। जब तक इस तरह के अनुभव संभव हैं, तो कोई भी व्यक्ति सर्वथा वासनाओं से मुक्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का अतिक्रम लुप्त हो रहा है; किंतु अभी बिलकुल नहीं रुक गया है। यदि मैं अपने विचारों पर पूर्ण संयम रख सकता तो पिछले दस वर्षों में प्लूरसी और संग्रहणी आदि रोगों से ग्रस्त न होता। मुझे विश्वास है कि स्वस्थ आत्मा स्वस्थ शरीर में रहती है। इसलिये जिस सीमा तक आत्मा वासनाओं से मुक्ति और स्वास्थ्य में उन्नति करती है, उसी सीमा तक उस अवस्था में शरीर की भी वृद्धि होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वस्थ शरीर के लिये मजबूत पेशियों का होना आवश्यक है। वीर आत्मा प्रायः दुबले-पतले शरीर में रहती है। एक निश्चित अवस्था के बाद आत्मा की वृद्धि के अनुपात से शरीर के माँस का ह्रास होने लगता है। पूर्ण रूप से स्वस्थ शरीर बहुत-कुछ माँस-हीन हो सकता है। पेशियों युक्त शरीर प्रायः अनेक बीमारियों की जड़ होता है। यदि वह प्रत्यक्ष रूप से रोगों से मुक्त हो, तो भी रोग के कीटाणुओं और उसी प्रकार के दूषित पदार्थों से रहित नहीं हो सकता। इसके विरुद्ध पूर्ण रूप से स्वस्थ शरीर इन सबसे रक्षित रहता है। भ्रष्ट हो सकनेवाला रक्त सभी प्रकार के रोग के कीटाणुओं से रक्षा कर सकने की आँतरिक्त शक्ति रखता है। इस प्रकार समतोल प्राप्त करना अवश्य कठिन है। अन्यथा मैंने इसे प्राप्त कर लिया होता; क्योंकि मेरी आत्मा इस बात की साक्षी है कि इस पूर्णावस्था को प्राप्त करने के लिये मैं कुछ भी नहीं उठा रख सकता। कोई भी वाह्य अवरोध मेरे और उस अवस्था के बीच नहीं ठहर सकता। किंतु सबके लिये—और कम-से-कम मेरे लिये—पूर्व संस्कारों

को दूर कर सकना आसान नहीं है। परंतु विलंब के कारण मुझे तनिक भी विस्मय नहीं हुआ है। क्योंकि मैंने उस पूर्णावस्था का मानसिक चित्र खींच लिया है। मुझे उसकी धुँधली झलक भी दिखाई देती है। अब तक प्राप्त उन्नति से निराशा की जगह पर मुझे आशा होती है। किंतु यदि उस आशा के पूर्ण होने के पहले ही मेरा इस शरीर से वियोग हो जाय, तो मैं यह नहीं समझूंगा कि मैं असफल हुआ। क्योंकि मैं पुनर्जन्म में उतना ही विश्वास रखता हूँ, जितना इस वर्तमान शरीर के अस्तित्व में। इसलिये मैं जानता हूँ कि थोड़ा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता।

मैंने अपने संबंध में इतनी बातें केवल इस कारण कही हैं कि मुझे पत्र लिखनेवाले और उनकी ही भांति दूसरे लोग अपने में धैर्य और आत्म-विश्वास रक्खें। सबमें आत्मा एक ही होती है। इस कारण सबके लिये इसकी संभाव्यता एक-सी है। कुछ लोगों में इसने अपने को प्रस्फुटित किया है और कुछ में यह अब ऐसा करने वाली है। धैर्यपूर्वक प्रयत्न से प्रत्येक मनुष्य उसी अनुभव तक पहुँच सकता है।

मैंने अब तक ब्रह्मचर्य्य का वर्णन व्यापक रूप में किया है। ब्रह्मचर्य्य का साधारण स्वीकृत अर्थ मन, कर्म और वचन से पाशविक वासना का दमन करना है। इस प्रकार इसके अर्थ को संकुचित करना बिल्कुल ठीक है। इस ब्रह्मचर्य्य का पालन करना बहुत कठिन समझा जाता है। इस विषय-वासना का दमन इतना कठिन रहा है कि लगभग असंभव-सा हो गया है। बात यह है कि जिह्वा के संयम पर इतना जोर नहीं दिया जाता रहा है। हमारे चिकित्सकों का यह अनुभव भी है कि रोग से जराजीर्ण शरीर सदा विषय-वासना का प्रियस्थान रहता हैं। और जीर्ण-शीर्ण

जाति के लिये ब्रह्मचर्य्य का पालन करना स्वाभाविक रूप से कठिन है।

मैंने ऊपर दुबले किंतु स्वस्थ शरीर की बातचीत की है। इससे किसी को यह न समझना चाहिए कि मैं शारीरिक बल की अवहेलना करता हूँ। मैंने तो ब्रह्मचर्य्य की बात अपने बिल्कुल मोटे शब्दों में पूर्ण रूप में की है। इसलिये संभव है कि इसका अर्थ ठीक न समझा जाय। किंतु जो व्यक्ति सभी इंद्रियों का पूर्ण रूप से संयम करेगा, उसे शारीरिक दुबलेपन का स्वागत करना ही पड़ेगा। शरीर के प्रति ममता की अनुरक्ति के लोप के बाद शारीरिक बल रखने की आकांक्षा दूर करने का प्रश्न आता है। किंतु एक सच्चे ब्रह्मचारी का शरीर अवश्य ही असाधारण नूतन और तेजोमय होता है। यह ब्रह्मचर्य्य कुछ अपार्थिव है। जो व्यक्ति स्वप्न में भी विषय-वासनाओं से विचलित नहीं होता, वह सबप्रकार प्रतिष्ठा के योग्य है। वह अन्य सब इन्द्रियों का संयम अनायास कर सकेगा।

इस सीमित ब्रह्मचर्य्य के प्रसंग में एक दूसरे मित्र लिखते हैं:–"मैं दयनीय अवस्था में हूँ। जब मैं अपने दफ्तर में रहता हूँ, सड़क पर रहता हूँ और जब पढ़ता रहता हूँ, काम करता रहता हूँ, और प्रार्थना करता रहता हूँ, तब भी रात-दिन विषय-वासना घेरे रहती है। चक्कर लगाते हुए मस्तिष्क पर किस प्रकार संयम रक्खा जा सकता है? किस प्रकार प्रत्येक स्त्री पर माता के समान दृष्टि रखना सीखा जा सकता है? आँख किस प्रकार पवित्रतम प्रेम को देदीप्त कर सकती है, किस प्रकार दुर्वासनाएँ दूर की जा सकती हैं, मेरे सामने आपका ब्रह्मचर्य्य के ऊपर लिखा लेख है। (कई वर्ष पूर्व लिखा हुआ) किंतु इससे मुझे कुछ भी सहायता नहीं मिलती।"

सचमुच यह स्थिति हृदय को पिघला देनेवाली है। बहुतेरे लोगों की ऐसी ही दशा रहती है; परंतु जब तक मन के भीतर इन विचारों के प्रति संग्राम जारी रहता है, तब तक डर की कोई बात नहीं है। (यदि आँख अपराधिनी हो, तो उसे बंद कर लेना चाहिए, यदि कान अपराधी हों, तो उन्हें भी रूई से बंद कर देना चाहिए, आँख नीचे करके चलना श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार दूसरी ओर देखने का अवकाश ही न मिलेगा। जहाँ गंदी बातें हो रही हों, गंदे गाने गाए जा रहे हों, वहाँ से उठ कर भाग आना चाहिए। अपनी रसना पर भी खूब अधिकार रखना चाहिए।)

मेरा निजी अनुभव तो यह है कि जो रसना को नहीं जीत सका, वह विषय पर विजय नहीं पा सकता। रसना पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। परंतु जब इसपर विजय मिल जाती है, तभी दूसरी विजय मिलना संभव है। रसना पर विजय प्राप्त करने के लिये पहला साधन तो यह है कि मसालों का पूर्ण रूप से या जितना संभव हो, त्याग किया जाय। दूसरा साधन इससे अधिक जोरदार है। वह यह कि इस विचार की वृद्धि सदा की जाय कि हम रसना की तृप्ति के लिये नहीं, वरन् जीवन-रक्षण के लिये आहार करते हैं। हम स्वाद के लिये वायु नहीं ग्रहण करते, वरन् श्वास लेने के लिये लेते हैं। पानी हम केवल पिपासा शांत करने के लिये पीते हैं। इसी प्रकार भोजन भी केवल भूख मिटाने के लिये ही करते हैं। हमारे माता-पिता बचपन से ही इसके विपरीत आदत डाल देते हैं। हमारे पालन के लिये नहीं वरन् अपना प्यार प्रदर्शित करने के लिये वे भांति-भांति के स्वाद चखाकर हमें नष्ट कर डालते हैं। ऐसे वातावरण का हमें विरोध करना पड़ेगा। परन्तु विषयासक्ति पर विजय पाने के लिये स्वर्ण

साधन राम-नाम किंतु इसी प्रकार के अन्य मन्त्र हैं। द्वादश मन्त्र भी यही काम कर सकेगा। जिसकी जैसी धारणा हो, उसी प्रकार के मंत्र का जाप अभिष्ट है। जिस मंत्र का जाप हमें करना हो, उसमें पूर्णतया लीन हो जाना चाहिये। यदि मंत्र-जाप के समय हमारे मन में दूसरे प्रकार के भाव आएँ तो भी जो भक्ति के साथ जाप करता रहेगा उसे अंत में सफलता प्राप्त होगी। इसमें जरा भी संदेह नहीं है। वह उसके जीवन-साफल्य का आधार बनकर समस्त भावी आपत्तियों से उसकी रक्षा करेगा। ऐसे पवित्र मंत्रों का उपयोग किसी को आर्थिक लाभ के लिये कदापि न करना चाहिए। इन मंत्रों की महत्ता अपनी नियति को सुरक्षित रखने में है। और यह अनुभव तो प्रत्येक साधक को तुरंत प्राप्त हो जायगा। हाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि इन मंत्रों की तोता-रटंति से कुछ नहीं हो सकता। उनमें तो अपने आत्म-प्रवेश की आवश्यकता है। तोते तो मंत्र की भांति उच्चारण करते हैं। पर हमें तो विवेक के साथ उनका पारायण करना चाहिए। अनपेक्षित विचारों का निवारण करने की आकांक्षा से एवं इस आत्म-विश्वास के साथ कि मंत्र में यह शक्ति है, हमें मंत्र का जाप करते रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की व्यापकता

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते हुए मेरे पास इतने पत्र आ रहे हैं और इस विषय में मेरे विचार दृढ़ हैं कि खासकर राष्ट्रीय जीवन के इस घटना पूर्ण काल में अपने विचार और अपने तजुरबों के नतीजे पाठकों से मैं और अधिक नहीं छिपा सकता।

संस्कृत में अमैथुन का अभिवाची शब्द ब्रह्मचर्य है। परन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ अमैथुन से कहीं अधिक विस्तृत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सम्पूर्ण इन्द्रियों और अवयवों का संयम। पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु यह आदर्श-स्थिति है जिसे बिरले ही पाते हैं। यह रेखागणित की उस रेखा के सदृश है जो केवल कल्पना में ही रहती है और जो शारीरिक रूप से खींची ही नहीं जा सकती। फिर भी यह रेखागणित की एक मुख्य परिभाषा है और इसके बड़े परिणाम निकलते हैं। इसी प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य भी केवल काल्पनिक जगत् में ही रह सकता है। किन्तु यदि हम अपने ज्ञानचक्षु के सामने उसे निरन्तर न बनाये रखें तो हम बिना पतवार की नौका के समान भटकें। इस काल्पनिक स्थिति के जितने ही निकट हम पहुँचते जावेंगे उतने ही पूर्ण होते जावेंगे।

किन्तु फिलहाल में अमैथुन के अर्थ में ही ब्रह्मचर्य्य पर लिखूंगा। मैं मानता हूँ कि आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के लिये मन, वचन औरकर्म से पूर्ण संयमी जीवन आवश्यक है; और जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्य नहीं होते, वह इसी कमी के कारण दरिद्री है। किन्तु राष्ट्रीय विकास की मौजूदा स्थिति में सामयिक आवश्यकता के तौर पर ब्रह्मचर्य की पैरवी करना मेरा उद्देश्य है।

रोग, अकाल, और दरिद्रता, यहां तक कि भूखों मरना भी,

मामूली से अधिक हमारे बांट में पड़ा है। हम ऐसे सूक्ष्म ढंग से दासता की चक्की में पीसे जा रहे हैं कि हममें-से बहुतेरे इसको ऐसा मानने से भी इन्कार करते हैं और आर्थिक, मानसिक और नैतिक के तिहरे अभिशाप के होते हुए भी हम अपनी इस दशा को प्रगतिशील स्वतंत्रता का रूप मान बैठे हैं। शासन के भार ने कई प्रकार से भारत की ग़रीबी गहरी कर दी है और बीमारियों का सामना करने की योग्यता घटा दी है। गोखले के शब्दों में शासन के क्रम ने राष्ट्रीय उन्नति को भी यहां तक ठिठुरा दिया है कि हममें-से बड़े-से-बड़े को भी झुकना पड़ता है।

ऐसे पतित वायु मंडल में, क्या यह हमारे लिये ठीक होगा कि हम परिस्थिति को जानते हुए भी बच्चे पैदा करें? जब कि हम अपने को असहाय, रोगग्रस्त और अकाल-पीड़ित पाते हैं, उस समय यदि प्रजोत्पत्ति के क्रम को हम जारी रखेंगे तो केवल गुलामों और जीणकायों की संख्या ही बढ़ेगी। हमें तब तक बच्चा पैदा करने का अधिकार नहीं है जब तक भारत स्वतंत्र राष्ट्र होकर भुखमरी का सामना करने के योग्य, अकाल के समय खिला सकने में समर्थ और मलेरिया, हैज़ा, प्लेग तथा दूसरी बड़ी बीमारियों से निपटने की योग्यता से परिपूर्ण न हो जावें। मैं पाठकों से यह नहीं छिपाना चाहता कि जब मैं इस देश में जन्म-संख्या की वृद्धि सुनता हूँ तो मुझे दुःख होता है। मैं यह प्रगट करना चाहता हूँ कि सालों से मैंने स्वकीय आत्मत्याग के द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकने की सम्भावना पर संतोष के साथ विचार किया है। अपनी मौजूदा जन-संख्या की परवरिश करने के लायक़ भी भारत के पास साधन नहीं है। इसलिये नहीं कि उसकी जनसंख्या अधिक है, किन्तु इस लिये कि वह एक ऐसे शासन के चंगुल में है जिसका सिद्धांत उसको उत्तरोत्तर दुहना है।

प्रजोत्पत्ति की रोक-थाम कैसे हो? यूरोप में काम में लाए जानेवाले पाप पूर्ण और कृत्रिम निग्रहों से नहीं, किन्तु नियम और आत्मसंयम के जीवन से। पिता-माता को चाहिए कि वे अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य्य का पालन सिखावें। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार बालकों के विवाह की सबसे कम अवस्था २५ साल है। यदि भारतीय माताओं को यह विश्वास दिलाया जा सके कि लड़के और लड़कियों को विवाहित जीवन के लिये शिक्षा देना पाप है, तो भारत में होनेवाली आधी शादियाँ अपने आप ही रुक जावें। हमारी गर्म जल-वायु के कारण लड़कियों के जल्दी रजस्वला होने की बात भी हमें न माननी चाहिए। जल्दी रजस्वला होने के वहम से भोंडा और कोई झूठा विश्वास मैंने कभी नहीं जाना। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि जलवायु का रजस्वला होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। समय के पहले रजस्वला बनने का कारण है हमारे कुटुम्ब का मानसिक और नैतिक वायुमंडल। माताएं और दूसरे कुटुम्बी अबोध बच्चों को यह सिखाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं कि जब उनकी इतनी उम्र हो जायगी तब उनका विवाह होगा। जब वे दुधमुहें बच्चे रहते हैं या पालने में झूलते हैं, तभी उनकी मँगनी हो जाती है। बच्चों के कपड़े और भोजन भी कामोत्तेजना में सहायता देते हैं। उनके नहीं, किन्तु अपने आनन्द और गर्व के लिये हम अपने बच्चों को गुड्डों के-से कपड़े पहनाते हैं। मैंने बीसियों बच्चों का पालन-पोषण किया है। और जो भी कपड़े उन्हें दिए, बिना कठिनाई के वे उन्हीं को पहनने लगे और खुश हुए। हम उन्हें हर प्रकार का गरम और उत्तेजक खाना खिलाते हैं। हमारा अंधा स्नेह उनकी क्षमता का ख्याल ही नहीं करता। निस्सन्देह फल यह होता है कि जल्दी जवानी आ जाती है, अधकचरे बच्चे पैदा होते हैं और जल्दी ही मर जाते हैं।

पिता-माता अपने कामों से ऐसा जीता-जागता सबक देते हैं। जिसे बच्चे आसानी से समझ लेते हैं। विषयभोग में बुरी तरह चूर रह कर वे अपने बच्चों के लिये बेरोक दुराचार के नमूने का काम देते हैं। कुटुम्ब की प्रत्येक कुसमय वृद्धि का बाजे-गाजे, खुशियों और दावतों के साथ स्वागत किया जाता है। आश्चर्य तो ऐसे वायुमंडल के होते हुए हम इससे भी कम संयमी क्यों नहीं हैं। मुझे इसमें सन्देह की झलक भी नहीं है कि यदि विवाहित पुरुष अपने देश का भला चाहते हैं और भारत को बलवान, रूपवान, और सुडौल स्त्री-पुरुषों का राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो वे पूर्ण आत्मसंयम का पालन करें और फिलहाल बच्चे पैदा करना बन्द कर दें। जिनका नया विवाह हुआ है उन्हें भी मैं यही सलाह दूँगा। किसी बात को न करना, उसको करके छोड़ने से आसान है। आजन्म शराब से निर्लिप्त बना रहना एक शराबी के शराब छोड़ने की अपेक्षा कहीं आसान है। यह कहना मिथ्या है कि संयम उन्हीं को भली तरह समझाया जा सकता है जो विषयभोग से अघा गये हैं। निर्बल मनुष्य को भी संयम सिखाने का कोई अर्थ नहीं होता। मेरा पहलू तो यह है कि चाहे हम बूढ़े हों या जवान, अघा गये हों या न अघा गये हों, मौजूदा घड़ी में यह हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी दासता के उत्तराधिकारी पैदा करना बन्द कर दें। मैं माता-पिताओं का ध्यान इस ओर भी दिला दूँ कि उन्हें एक दूसरे के अधिकार के विवाद-जाल में न फँसना चाहिए। विषयभोग के लिये सम्मति की आवश्यकता होती है, संयम के लिये नहीं। यह प्रत्यक्ष सत्य है।

जब हम एक शक्तिशाली सरकार से लड़ रहे हैं, तब हमें शारिरिक, आर्थिक, नैतिक और आत्मिक सभी शक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी। जब तक हम इस महान् कार्य को अपना सर्वस्व

न बना लें और प्रत्येक अन्य वस्तु से इसको मूल्यवान् न समझ लें तब तक इस शक्ति को हम नहीं पा सकते। जीवन की इस व्यक्तिगत पवित्रता के विना, हम गुलामों की जाति ही बने रहेंगे। हमें यह कल्पना करके अपने को धोखे में न डालना चाहिए कि चूँकि हम शासन-पद्धति को दूषित मानते हैं, इसलिये व्यक्तिगत गुणों की होड़ में भी हमें अंगरेजों से घृणा करनी चाहिए। मौलिक गुणों का आध्यात्मिक प्रदर्शन किए विना वे लोग बहुत बड़ी संख्या में उनका शारीरिक पालन करते हैं। देश के राजनैतिक जीवन में बढ़े हुए लोग, वहाँ, हमसे कहीं अधिक संख्या में कुमारियाँ और कुमार हैं। हमारे बीच में कुमारियाँ तो होती ही नहीं। हाँ बाइयाँ होती हैं जिनका देश के राजनैतिक जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। दूसरी ओर यूरोप में साधारण गुण के रूप में हजारों स्त्रियाँ अविवाहित रहती हैं।

अब मैं पाठकों के सामने कुछ सरल नियम रखता हूँ जो केवल मेरे ही नहीं, किन्तु मेरे बहुतेरे साथियों के भी अनुभव पर आधारित हैं।

१—इस अटल विश्वास के साथ, कि वे निर्दोष हैं और रह सकते हैं, लड़के और लड़कियों का पालन-पोषण सरल और प्राकृतिक ढंग पर होना चाहिए।

२—उत्तेजक भोजन, मिर्च और दूसरे मसाले, टिकिया, और मिठाइयाँ जैसे चर्बीदार और गरिष्ट भोजन और सुखाए हुए पदार्थ परित्याग कर देना चाहिए।

३—पति और पत्नी अलग-अलग कमरों में रहें और एकान्त में न मिलें।

४—शरीर और मन दोनों ही निरंतर स्वास्थ्यप्रद कामों में लगे रहें।

५—शीघ्र सोने और शीघ्र जागने का नियम पालन किया जाय।

६—गन्दे साहित्य से दूर रहा जाय, गन्दे विचारों की दवा पवित्र विचार हैं।

७—नाटक, सिनेमा आदि कामोत्तेजक तमाशों का बहिष्कार कर दिया जाय।

८—स्वप्नदोष के कारण कोई चिन्ता न करनी चाहिए। काफ़ी मज़बूत आदमी के लिये प्रत्येक बार ठंडे जल में स्नान करना, ऐसी दशा में सबसे अच्छी रोक है। यह कहना मिथ्या है कि अनिच्छित स्वप्नदोषों से बचने के लिये जब तक विषयभोग कर लेना संरक्षण है।

९—पति और पत्नी के बीच में भी संयम को इतना कठिन न मान लेना चाहिए कि वह लगभग असम्भव-सा प्रतीत होने लगे। दूसरी ओर, आत्मसंयम को जीवन की साधारण और स्वाभाविक आदत माननी चाहिए।

१०—प्रत्येक दिन पवित्रता के लिये दिल से की गई प्रार्थना उत्तरोत्तर पवित्र बनाती है।

ब्रह्मचर्य और सत्य

एक मित्र महादेव देसाई को इस प्रकार लिखते हैं।

"आपको यह तो स्मरण होगा ही कि कुछ महीने पहले 'नवजीवन' में ब्रह्मचर्य पर लेख लिखे गये थे—शायद आप ही ने 'यंग इन्डिया' से उनका अनुवाद किया था। गाँधीजी ने उस समय इस बात को प्रकट किया था कि मुझे अब भी दूषित स्वप्न आते हैं। यह पढ़ते ही मुझे ख्याल हुआ था कि ऐसी बातें प्रकट करने का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता और पीछे से मेरा ख्याल सच साबित होता हुआ प्रतीत हुआ है।

विलायत की हमारी यात्रा में मैंने और मेरे दो मित्रों ने अनेक प्रकार के प्रलोभनों के होते हुए भी अपना चरित्र शुद्ध रक्खा था। उन तीन 'म' से तो बिलकुल ही दूर रहे थे। लेकिन गाँधीजी का उपरोक्त लेख पढ़कर मेरे मित्र बिलकुल ही हताश हो गये और उन्होंने दृढ़तापूर्वक मुझसे कहा कि 'इतने भगीरथ प्रयत्न करने पर भी जब गाँधीजी की यह हालत है तब फिर हमारा क्या हिसाब? यह ब्रह्मचर्यादि पालन करने का प्रयत्न करना वृथा है। मुझे तो अब गयाबीता ही समझो। कुछ म्लान मुख से मैंने उसका बचाव करना आरम्भ किया—यदि गाँधीजी जैसों को भी इस मार्ग पर चलना इतना कठिन मालूम होता है तो फिर हमें अब तिगुने अधिक प्रयत्नशील होना चाहिये इत्यादि—जैसी कि दलीलें आप या गाँधीजी करेंगे। लेकिन यह सब व्यर्थ हुआ। आज तक जो निष्कलंक और सुन्दर-चरित्र था वह कलंकित हो गया। कर्म-सिद्धान्तानुसार इस अधःपतन का कुछ दोष कोई गाँधीजी पर लगावें तो आप या गाँधीजी क्या कहेंगे?

जब तक मुझे इस एक ही उदाहरण का ख्याल था, मैंने आपको

कुछ भी न लिखा था—'अपवाद' के नाम से आसानी से टाल दिये जानेवाले उत्तर से मैं सन्तोष मानने के लिये तैयार न था। लेकिन उपरोक्त लेख के पढ़ने के बाद ही घटित हुए दूसरे ऐसे उदाहरणों से मेरे भय को पुष्टि मिली है और ऊपर बताये गये उदाहरण में मेरे मित्र पर उस लेख का जो परिणाम हुआ, केवल अपवादरूप न था, इसका मुझे यकीन हो गया है।

मैं यह जानता हूँ कि गाँधीजी को जो हजारहा बातें आसानी से शक्य हो सकती हैं। वे मेरे लिये सर्वथा अशक्य हैं। लेकिन भगवान् की कृपा से इतना बल तो प्राप्त है कि जो गाँधीजी को भी अशक्य मालूम हो, ऐसी एकाध बात मेरे लिए संभव भी हो जाय। गाँधीजी की यह उक्ति पढ़कर मेरा अन्तर विलोड़ित हुआ है और ब्रह्मचर्य का स्वास्थ्य जो विचलित हुआ है सो अभी तक स्थिर नहीं हो सका है। फिर भी ऐसे ही एक विचार ने मुझे अधःपात से बचा लिया है। बहुत मरतबा तो एक दोष ही दूसरे दोष से मनुष्य की रक्षा करता है। इसमें भी मेरे अभिमान के दोष के कारण मेरा अधःपतन होते [illegible] रुक गया। गाँधीजी के ध्यान में यह बात लाने की कृपा करेंगे। खासकर अभी जब कि वे आत्म कथा लिख रहे हैं। सत्य और शुद्ध लिखने में बहादुरी तो अवश्य है, लेकिन संसार में और 'नवजीवन' और 'यंग इन्डिया' के पाठकों में इससे विरुद्ध गुण का परिमाण ही अधिक है। इसलिये एक का खाद्य दूसरे के लिये जहर हो सकता है।"

यह शिकायत कोई नई नहीं है। असहयोग के आन्दोलन का जब बड़ा जोर था और उस समय जब मैंने अपनी गलती को स्वीकार किया था तब एक मित्र ने बड़े ही सरलभाव से कहा था आपको गलती मालूम हो तो भी उसको प्रकाश न करना चाहिए

लोगों को यह ख्याल बना रहना चाहिए कि ऐसा भी कोई एक है कि जिससे कभी गलती नहीं हो सकती है। आप ऐसे ही गिने जाते थे। आपने गलती को स्वीकार किया है, इसलिए अब लोग हताश होंगे।" इस पत्र को पढ़कर मुझे हँसी आई और खेद भी हुआ। लेखक के भोलेपन पर मुझे हँसी आई। जिससे कभी गलती न हो, ऐसा मनुष्य यदि न मिले तो किसी को भी मनाने का विचार करना मुझे त्रासदायक प्रतीत हुआ।

मुझसे गलती हो और वह यदि मालूम हो जाय, तो उससे लोगों को हानि के बदले लाभ ही होगा। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि गलतियों को मेरे शीघ्र स्वीकार करने से जनता को लाभ ही हुआ है। और मैंने अपने सम्बन्ध में तो यह अनुभव किया है कि मुझे तो उससे अवश्य लाभ हुआ है।

मेरे दूषित स्वप्नों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिये। सम्पूर्ण ब्रह्मचारी न होने पर भी यदि मैं वैसा करने का दावा करूँ तो उससे संसार को बड़ी हानि होगी। उससे ब्रह्मचर्य कलंकित होगा। सत्य का सूर्य म्लान हो जावेगा। ब्रह्मचर्य का मूल्य क्यों घटा? आज तो मैं यह स्पष्ट देख सकता हूँ कि ब्रह्मचर्य के पालन के लिये मैं जो उपाय बताता हूँ वे सम्पूर्ण नहीं हैं। सबलोगों को वे सम्पूर्णतया सफल नहीं होते हैं; क्योंकि मैं स्वयं सम्पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। संसार यदि यह माने कि सम्पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ; और मैं उसकी जड़ी-बूटी न दिखा सकूँ, तो यह कैसी बड़ी त्रुटि गिनी जायगी!

मैं सच्चा साधक हूँ। मैं सदा जाग्रत रहता हूँ। मेरा प्रयत्न दृढ़ है। इतना ही क्यों बस न माना जाय! इसी बात से दूसरों को मदद क्यों न मिले। मैं भी यदि विचार के विकारों से दूर नहीं रह सकता

भा
कर्ा
बि

हूँ तो फिर दूसरों का कहना ही क्या ! ऐसा ग़लत हिसाब करने के बदले यह सीधा ही क्यों न किया कि जो शख़्स एक समय व्यभिचारी और विकारी था वह आज यदि अपनी पत्नी के साथ भी अपनी लड़की या बहन का सा भाव रखकर रह सकता है, तो हम लोग भी इतना क्यों न कर सकेंगे ! हमारे स्वप्नदोषों को, विचार-विकारों को तो ईश्वर दूर करेगा ही । यह सीधा हिसाब है ।

लेखक के वे मित्र, जो मेरे स्वप्नदोष के स्वीकार के बाद पीछे हटे हैं, कभी आगे बढ़े ही न थे । उन्हें झूठा नशा था । वह उतर गया। ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों की सत्यता या सिद्धि मुझ जैसे किसी भी व्यक्ति पर अवलम्बन नहीं रखती है । उसके पीछे लाखों मनुष्यों ने तेजस्वी तपश्चर्या की है और कुछ लोगों ने तो सम्पूर्ण विजय भी प्राप्त की है ।

उन चक्रवर्तियों की पंक्ति में खड़े रहने का जब मुझे अधिक प्राप्त होगा, तब मेरी भाषा में आज से भी अधिक निश्चय दिख देगा । जिसके विचार में विकार नहीं है, जिसकी निद्रा का भंग न होता है, जो निद्रित होने पर भी जागृत रह सकता है, वह नीरो होता है । उसे किनैन के सेवन की आवश्यकता नहीं होती । उस निर्विकार रक्त में ही ऐसी शुद्धि होती है कि उसे मलेरिया इत्या के जन्तु कभी दुःख नहीं पहुँचा सकते । यह स्थिति प्राप्त करने लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ । उसमें हारने की कोई बात ही नहीं है उस प्रयत्न में लेखक को, उनके श्रद्धाहीन मित्रों को, और दू पाठकों को, मेरा साथ देने के लिये मैं निमंत्रण देता हूँ और चाह हूँ कि लेखक की तरह वे मुझसे भी अधिक तीव्र वेग से आगे बढ़ जो पीछे पड़े हुए हों वे मुझ-जैसों के दृष्टांत से आत्म-विश्वासी बनें मुझे जो कुछ भी सफलता प्राप्त हो सकी है उसे मैं निर्बल होने

भी, विकारवश होने पर भी—प्रयत्न करने से, श्रद्धा से, और ईश्वर कृपा से प्राप्त कर सका हूँ।

इसलिये किसी को भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। मेरा महात्मा मिथ्या उबार है। वह तो मुझे मेरी बाह्य प्रवृत्ति के—मेरे राजनैतिक कार्य के—कारण प्राप्त है। वह क्षणिक है। मेरे सत्य का, अहिंसा का, और ब्रह्मचर्य का आग्रह ही मेरा अविभाज्य और सबसे अधिक अमूल्यवान अंग है। उसमें मुझे जो कुछ ईश्वरदत्त प्राप्त हुआ है, उसकी कोई भूल कर भी अवज्ञा न करें, उसमें मेरा सर्वस्व है। उसमें दिखाई देनेवाली निष्फलता सफलता की सीढ़ियाँ हैं। इसलिये निष्फलता भी मुझे प्रिय है।

ब्रह्मचर्य और संयम

[महात्माजी ने श्री पाल ब्यूरो की 'टुवर्ड्स मॉरल बैङ्क्रप्टसी' नामक पुस्तक की विवेचनात्मक आलोचना की है। उसी आलोचना का कुछ सार-गर्भित अंश यहाँ दिया जाता है ?]

भ्रष्टाचार के अनेक रूपों से व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज की अपार हानि बतलाते हुए श्रीपाल ब्यूरो मनुष्य के स्वभाव के विषय में एक बात लिखते हैं। मनुष्य भ्रमवश यह मान बैठता है कि मेरा अमुक काम स्वतंत्र है, इससे समाज को कोई हानि न होगी। किंतु प्रकृति का नियम ऐसा है कि अत्यंत गुप्त-से-गुप्त और व्यक्तिगत काम का भी प्रभाव दूर-से-दूर तक पड़ता है। अपने काम को पाप माननेवाले भी बार-बार यह घोषित करते हैं कि उनके उस काम का समाज से कोई संबंध नहीं है, वे पाप में इतने फँस जाते हैं कि अपने पाप को पाप मानने में भी उन्हें संदेह होने लगता है; और उसी पाप का वे प्रचार करने लगते हैं, पर पाप छिपा नहीं रह सकता। उस पाप का विष सारे समाज में फैल जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गुप्त पाप से भी समाज को बड़ी हानि पहुँचती है।

तो फिर इसका उपाय क्या है ? लेखक स्पष्ट-रूप से बतलाते हैं कि विधान बनाकर इसे नहीं रोका जा सकता। केवल आत्म-संयम ही एक उपाय है। इसलिये इस पक्ष में लोकमत तैयार करना परमावश्यक है कि अविवाहित स्त्री-पुरुष पूर्णरूप से ब्रह्मचर्यपूर्वक रहें। जो लोग अपनी काम-वासना पर इतना अधिकार नहीं रख सकते, उनके लिये विवाह करना आवश्यक है और जो विवाह कर चुके हों उन्हें एक-दूसरे के साथ प्रेम और भक्ति रखकर अतिशय संयम के साथ अपना जीवन बिताना चाहिए।

परंतु प्रायः लोग कहते हैं—ब्रह्मचर्य से स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है, और यह कहना कि ब्रह्मचर्य पालन करो, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर और इस अधिकार पर कि वे अपनी इच्छानुसार सुख से जीवन बितावें, असह्य आक्रमण करना है। लेखक इस दलील का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। काम-वासना नींद और भूख-जैसी कोई वस्तु नहीं है; जिसके बिना आदमी जीवित ही न रह सके। अगर हम कुछ न खाँय, तो दुर्बल हो जायँगे। अगर सो न सकें तो बीमार पड़ेंगे, और अगर शौच को रोकें, तो कई बीमारियाँ होंगी। किंतु काम-वासना को हम प्रसन्नतापूर्वक रोक सकते हैं। और इसका बल भी भगवान ने ही हमें दिया है। आज-कल काम-वासना स्वाभाविक इच्छा कही जाती है। बात यह है कि आज कल की हमारी सभ्यता में कितनी ही ऐसी उत्तेजक बातें भरी पड़ी हैं, जिनसे हमारे युवक-युवतियों में यह इच्छा समय के पहिले ही जागृत हो उठती है।

प्रोफेसर अस्टर्लेन का कथन है—काम-वासना इतनी प्रबल नहीं होती कि उसका विवेक या नैतिक बल से पूर्णरूप से दमन न किया जा सके। हाँ, एक युवक-युवती को उचित अवस्था पाने के पूर्व तक संयम से रहना सीखना चाहिए। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि उनके आत्म-संयम का उन्हें बलिष्ठ शरीर तथा उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उत्साह-बल के रूप में मिलेगा।

यह बात जितनी बार कही जाय, थोड़ी है कि नैतिक तथा शरीर-संबंधी संयम से पूर्ण ब्रह्मचर्य रखना सब प्रकार से संभव है और विषय-भोग का समर्थन न तो उपर्युक्त किसी दृष्टि से किया जा सकता है और न धर्म की किसी दृष्टि से ही।

प्रोफेसर सर लायनेल बिली कहते हैं—श्रेष्ठ और शिष्ट पुरुषों

के उदाहरणों ने अनेक बार सिद्ध कर दिया है कि बड़े-से-बड़े विकार भी सच्चे और दृढ़ हृदय से तथा रहन-सहन में उचित सतर्कता रखने से रोके जा सकते हैं। जब कभी संयम का पालन कृत्रिम साधनों से ही नहीं, बल्कि उसे स्वेच्छा से स्वभाव में परिणत करके किया गया है, तब-तब उससे कभी हानि नहीं हुई। अतः अविवाहित रहना अति दुष्कर नहीं है। पर यह तभी संभव है जब वह मनोवृत्ति के स्थूल रूप में भी समा जाय। पवित्रता का अर्थ कोरा विषय-वासना का दमन करना ही नहीं है; वरन् विचारों में भी पवित्रता लाना है।

स्विट्जरलैंड का मनोविज्ञानिक फोरल, जिसने इस विषय का यथेष्ट अध्ययन किया है और जो उसी अधिकारयुक्त वाणी में इसकी चर्चा करता है, कहता है—व्यायाम से प्रत्येक प्रकार का शारीरिक बल बढ़ता है। इसके विपरीत किसी भी प्रकार की अकर्मण्यता उसके उत्तेजित करनेवाले कारणों के प्रभाव को दबा देती है।

विषय-संबंधी सभी बातें विषय-वासना को अधिक प्रज्वलित कर देती हैं। उन बातों से बचने से उनका प्रभाव शांत हो जाता है और विषय-वासना का धीरे-धीरे शमन हो जाता है। प्रायः युवक यह समझते हैं कि विषय-निग्रह करना एक असाधारण एवं असंभव कार्य है। किंतु वे लोग जो स्वयं संयम से रहते हैं, सिद्ध करते हैं कि बिना स्वास्थ्य को हानि पहुँचाए भी पवित्र जीवन बिताया जा सकता है।

विद्वान् रिबिंग कहता है—मैं पचीस या तीस वर्ष की अवस्था वाले तथा उससे भी अधिक आयुवाले ऐसे पुरुषों को जानता हूँ जिन्होंने पूर्ण संयम रक्खा है। ऐसे लोगों को भी मैं जानता

जिन्होंने अपने विवाह के पूर्व भी संयम रक्खा है। ऐसे पुरुषों की कमी नहीं है; पर ऐसे लोग अपना ढिंढोरा नहीं पीटते।

मेरे पास ऐसे बहुत-से विद्यार्थियों के अनेक निजी पत्र आए हैं, जिन्होंने इस बात पर आपत्ति की है कि मैंने विषय-संयम की सुसाध्यता पर यथेष्ट महत्व नहीं दिया।

डा० एक्टन का कथन है—विवाह के पूर्व युवकों को पूर्ण संयम से रहना चाहिए और यह संभव भी है।

सर जेम्स पैगट की धारणा है—जिस प्रकार पवित्रता से आत्मा को क्षति नहीं पहुँचती, उसी प्रकार शरीर को भी कोई हानि नहीं पहुँचती। इंद्रिय-संयम ही सदाचार है।

डा० पेरियर कहते हैं—पूर्ण संयम के संबंध में यह सोचना कि वह भयावह है, नितांत भ्रमात्मक है और उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। क्योंकि यह युवक-युवतियों के ही मन में घर नहीं करता है, वरन् उनके माता-पिताओं के भी। नवयुवकों के लिये ब्रह्मचर्य शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक तीनों दृष्टियों से उनका रक्षक है।

सर एंड्रूक्लार्क कहते हैं—संयम से कोई हानि नहीं पहुँचती और न वह मनुष्य के स्वाभाविक विकास को ही रोकता है, वरन् वह तो बल और बुद्धि को तीव्र करता है। असंयम से आत्मा का अधिकार जाता रहता है, आलस्य बढ़ता और शरीर ऐसे रोगों का शिकार बन जाता है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चले जाते हैं। यह कहना कि विषय-भोग नवयुवकों के स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है केवल भ्रमात्मक ही नहीं है, वरन् उनके प्रति निर्दयता भी है। यह एकदम मिथ्या और हानिकारक है।

डा० सर क्लेड ने लिखा है—असंयम के दुष्परिणाम तो निर्विवाद रूप से सर्वविदित हैं, परंतु संयम के दुष्परिणाम तो कपोल-कल्पित हैं। उपर्युक्त दो बातों में पहली बात का अनुमोदन तो बड़े-बड़े विद्वान् करते हैं, पर दूसरी बात को सिद्ध करनेवाला अभी तक कोई नहीं मिला।

डाक्टर मौंटेगजा अपनी एक पुस्तक में लिखते हैं—ब्रह्मचर्य से होनेवाले रोग मैंने कहीं नहीं देखे। साधारणतया सभी कोई और विशेष-रूप नवयुवक ब्रह्मचर्य से होनेवाले लाभों का तुरंत ही अनुभव कर सकते हैं।

डाक्टर ड्यूबाय इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं—उन आदमियों की अपेक्षा, जो पशु-वृत्ति के चंगुल से बचना जानते हैं, वे लोग नपुंसकता के अधिक शिकार होते हैं, जो विषय-भोग के लिये अपनी इंद्रियों की लगाम बिलकुल ढीली किए रहते हैं। उनके इस वाक्य का समर्थन डाक्टर फ़ीरी पूरे तौर पर करते हैं। उनका मत है—जो लोग मानसिक संयम कर सकें, वे ही ब्रह्मचर्य-पालन करें और इसके कारण अपने स्वास्थ्य के संबंध में किसी प्रकार का भय न रक्खें। विषय-वासना की पूर्ति पर ही स्वास्थ्य निर्भर नहीं है।

प्रोफेसर एल्फ्रेड फोर्नियर लिखते हैं—कुछ लोगों ने युवकों से आत्म-संयम के परिणामों के बारे में अनुचित और निराधार बातें कही हैं। परंतु मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यदि सचमुच आत्म-संयम में कुछ हानियाँ हैं, तो मैं उनसे अपरिचित हूँ। और यद्यपि अपने पेशे में उनके बारे में जानकारी पैदा करने का मुझे अवसर था, तो भी एक चिकित्सक की हैसियत से उनके अस्तित्व का मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है।

इसके अतिरिक्त, शरीर-शास्त्र के एक ज्ञाता की हैसियत से, मैं तो यही कहूँगा कि लगभग इक्कीस वर्ष की अवस्था के पूर्व वीर्य पूरी तरह पुष्ट नहीं होता और न विषय-भोग की आवश्यकता ही उसके पहले प्रतीत होती है। विषयेच्छा प्रायः असावधानी किए गए लालन-पालन का फल है। बुरा लालन-पालन बालक-बालिकाओं में समय से पहले ही कुवासना को उत्तेजित कर देता है।

खैर, कुछ भी हो, यह बात तो निश्चित ही है कि विषय-वासना के निग्रह से किसी प्रकार हानि होने की संभावना नहीं है। हानि तो अपरिपक्व अवस्था में विषय-वासना जागृत करके उसकी तृप्ति करने में है।

इतना विश्वस्त प्रमाण देने के बाद, लेखक अंत में १९०२ ई० में, ब्रुसेल्स नगर में, संसार भर के बड़े-बड़े डॉक्टरों की जो सभा हुई थी, उसमें स्वीकृत यह प्रस्ताव उद्धृत करते हैं—नवयुवकों को सिखाना चाहिए कि ब्रह्मचर्य के पालन से उनके स्वास्थ्य को कभी हानि नहीं पहुँच सकती, बल्कि वैद्यक और शरीर-शास्त्र की दृष्टि से तो ब्रह्मचर्य ऐसी वस्तु है जिसको उत्तेजना मिलना चाहिए।

कुछ वर्ष पहले किसी ईसाई विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विभाग के सभी अध्यापकों ने सर्वसम्मति से घोषित किया था कि यह कहना बिलकुल निराधार है कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिये कभी हानिकारक हो सकता है। यह बात हम अपने अनुभव और ज्ञान के बल पर कहते हैं। हमारी जान में इस प्रकार के जीवन से कभी कोई हानि होती नहीं पाई गई।

लेखक ने सारे विषय का यों उपसंहार किया है—अस्तु, आप यह तो भलीभांति समझ चुके होंगे कि समाज-शास्त्री और नीति-

शास्त्री पुकार-पुकार कर कहते हैं कि विषयेच्छा भी नींद और भूख के समान कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो। यह दूसरी बात है कि इसमें कुछ असाधारण अपवाद हों, किंतु सभी स्त्री-पुरुषों के लिये, बिना किसी बड़ी कठिनाई या दुःख के, ब्रह्मचर्य-पालन सहज है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य से तो कभी कोई रोग नहीं होता। हाँ, इसके विपरीत असंयम से बहुत-से भयंकर रोगों की उत्पत्ति अवश्य होती है। पर यदि हम क्षण भर के लिये यह भी मान लें कि वीर्य-रक्षा से रोग होता हो तो भी प्रकृति ने ही मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये, आवश्यकता से अधिक शक्ति के लिये स्वाभाविक स्खलन या मासिक धर्म-द्वारा रज-वीर्य के निकल जाने का मार्ग तैयार कर दिया है।

इसलिये डा० बीरी का यह कथन बिलकुल ठीक है—यह प्रश्न वास्तविक आवश्यकता या प्रकृति का नहीं है। यह बात सभी कोई जानते हैं कि अगर भूख की तृप्ति न हो, या श्वास बंद हो जाय तो कौन-कौन से दुष्परिणाम हो सकते हैं। पर कोई लेखक यह नहीं लिखता कि अस्थायी या स्थायी, किसी भी प्रकार के संयम के फलस्वरूप अमुक छोटा या बड़ा किसी भी प्रकार का रोग हो सकता है! यदि हम संसार के ब्रह्मचारियों की ओर देखें तो हमको पता चलेगा वे किसी से न तो चरित्रबल में कम हैं, और न संकल्पबल में; शरीर-बल में तो जरा भी कम नहीं हैं। वे यदि विवाह कर लें तो गृहस्थ-धर्म के पालन की योग्यता में भी वे दूसरों से कुछ कम नहीं पाए जायँगे। जो वृत्ति इस प्रकार सहज में ही रोकी जा सकती है, वह न तो आवश्यक है और न स्वाभाविक ही। विषय-तृप्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो मनुष्य के शारीरिक विकास के लिये आवश्यक हो। वरन् बात तो ठीक उसके विपरीत है। शरीर के साधारण विकास के लिये पूर्ण संयम का पालन परम

वश्यक है। इसलिये वयःप्राप्त युवक अपने बल का जितना अधिक संचय कर सकें, उतना ही अच्छा है। क्योंकि उनमें बचपन की अपेक्षा रोग को रोकने की शक्ति कम होती है। इस विकाश-काल में, जब कि देह और मन पूर्णता की ओर बढ़ते हैं, प्रकृति को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। अस्तु, ऐसे कठिन समय में किसी भी बात की अधिकता बुरी है; किंतु विशेष रूप से विषयेच्छा की उत्तेजना तो हानिकर ही है।

ब्रह्मचर्य और मनोवृत्तियाँ

एक अंग्रेज सज्जन लिखते हैं—'यंग इंडिया' में सन्तान-निग्रह पर आपने जो लेख लिखे हैं, उनको मैं बड़ी दिलचस्पी से पढ़ता रहा हूँ। मेरी उम्मीद है कि आपने जे० ए० हडफ़ील्ड की 'साइकालोजी ऍंड मोरल्स' नामक पुस्तक पढ़ ली है। मैं आपका ध्यान उस पुस्तक के निम्न लिखित उद्धरण की ओर दिलाना चाहता हूँ:—

विषयभोग स्वेच्छाचार उस हालत में कहलाता है जब कि यह प्रवृत्ति नीति की विरोधिनी मानी जाती हो और विषयभोग निर्दोष आनन्द तब माना जाता है जब कि इस प्रवृत्ति को प्रेम का चिन्ह माना जाय। विषय-वासना का इस प्रकार व्यक्त होना दाम्पत्य प्रेम को वस्तुतः गाढ़ा बनाता है, न कि उसे नष्ट करता है। लेकिन एक ओर तो मनमाना संभोग करने से और दूसरी ओर संभोग के विचार को तुच्छ सुख मानने के भ्रम में पड़कर उससे परहेज करने से अक्सर अशान्ति पैदा होती है और प्रेम कम पड़ जाता है। यानी उनकी समझ में संभोग करना सन्तानोत्पत्ति के कारणों के सिवा भी स्त्री से प्रेम बढ़ाने का धार्मिक गुण रखता है।

अगर लेखक की बात सच है तो मुझे आश्चर्य है कि आप अपने इस सिद्धान्त का समर्थन किस प्रकार कर सकते हैं कि सन्तान पैदा करने की मंशा से किया हुआ संभोग ही उचित है—अन्यथा नहीं। मेरा तो निजी ख्याल यह है कि लेखक की उपरोक्त बात सच है; क्योंकि महज यही नहीं कि वह एक मानसशास्त्रवेत्ता हैं, बल्कि मुझे खुद ऐसे मामले मालूम हैं कि जिसमें प्रेम को व्यवहार के द्वारा व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा को रोकने की कोशिश करने से दम्पत्य जीवन नीरस या नष्ट हो गया है।

अच्छा इसे लीजिये—एक युवक और एक युवती एक दूसरे के

साथ प्रेम करते हैं और उनका यह करना सुन्दर तथा ईश्वरकृत व्यवस्था का एक अंग है परन्तु उनके पास अपने बच्चे को तालीम देने के लिए काफी पैसा नहीं है (और मैं समझता हूँ कि आप इससे सहमत हैं कि तालीम वग़ैरह की हैसियत न रखते हुए संतान पैदा करना पाप है) या यह समझ लीजिये कि सन्तान पैदा करना स्त्री की तन्दुरुस्ती के लिये हानिकारक होगा या यह कि उसके अभी ही बहुत-से बच्चे हैं।

आपके कथनानुसार तो इस दम्पति के सामने दो ही रास्ते हैं—या तो वे विवाह करके अलग-अलग रहें—लेकिन अगर ऐसा होगा तो हडफील्ड की उपरोक्त दलील के मुआफिक उनके बीच मुहब्बत का खात्मा हो चलेगा—या वे अविवाहित रहें, लेकिन इस सूरत में भी उनकी मुहब्बत जाती रहेगी। इसका कारण यह है कि प्रकृति बल के साथ मनुष्यकृत योजनाओं की अवहेलना किया करती है। हाँ, यह बेशक हो सकता है कि वे एक दूसरे से जुदा हो जावें, लेकिन इस अलाहदगी में भी उनके मन में विकार तो उठते ही रहेंगे। और अगर सामाजिक व्यवस्था ऐसी बदल दें कि सब लोगों के लिए उतने ही बच्चे पैदा करना मुमकिन हो जितने कि वे चाहें, तो भी समाज को अतिशय सन्तानोत्पत्ति का, हर-एक औरत को हद से ज्यादा सन्तान उत्पन्न करने का, खतरा तो बना ही रहता है। इसकी वजह यह है कि मर्द अपने को बहुत ज्यादा रोके रहते हुए भी साल में एक बच्चा तो पैदा कर ही लेगा। आपको या तो ब्रह्मचर्य का समर्थन करना चाहिये या सन्तान-निग्रह का; क्योंकि वक्तन् फवक्तन किये हुए सम्भोग का नतीजा यह हो सकता है कि (जैसा कभी-कभी पादरियों में हुआ करता है) औरत, ईश्वर की मरजी के नाम पर, मर्द के द्वारा पैदा किया हुआ हर साल एक बच्चा जन्म करने की वजह से मर जाय। जिसे आप आत्मसंयम कहते हैं

वह प्रकृति के काम में उतना ही विरोधी है—बल्कि हकीकत ज्यादा-जितना कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम साधन हैं। सम्भव है कि पुरुष लोग इन साधनों की मदद से विषय-भोग में ज्यादती करें; परन्तु उससे सन्तति की पैदाइश रुक जायगी और अन्त में उन्हीं को दुःख भोगना होगा—अन्य किसी को नहीं। इसके विपरीत जो लोग इन साधनों का उपयोग नहीं करते, वे भी ज्यादती के दोष से कदापि मुक्त नहीं हैं, और उनके दोष को वे ही नहीं, सन्तति भी—जिनकी पैदाइश को वे नहीं रोक सकते हैं, भोगते हैं। इंग्लैंड में आजकल खानों के मालिकों और मजदूरों के बीच जो झगड़ा चल रहा है, उसमें खानों के मालिकों की विजय सम्भवित है। इसका कारण यह है कि खदान वाले बहुत बड़ी तादाद में है। सन्तानोत्पत्ति की निरंकुशता से बेचारे बच्चों का ही बिगाड़ नहीं होता; बल्कि समस्त मानव जाति का।

इस पत्र में मनोवृत्तियों तथा उनके प्रभाव का खासा परिचय मिलता है। जब मनुष्य का दिमाग रस्सी को साँप समझ लेता है, तब उस विचार को लिये हुए वह घबरा जाता है, या तो वह भागता है या उस कल्पित साँप को मार डालने की गरज से लाठी उठाता है। दूसरा आदमी किसी गैर स्त्री को अपनी पत्नी मान बैठता है और उसके मन में पशु-वृत्ति उत्पन्न होने लगती है। जिस क्षण वह अपनी यह भूल जान लेता है, उसी क्षण उसका वह विकार ठंडा पड़ जाता है।

इसी तरह से उपरोक्त मामले में, जिसका कि पत्रलेखक ने जिक्र किया है, माना जाय। जैसा कि संभोग की इच्छा को तुच्छ मानने के भ्रम में पड़कर उससे परहेज करने से प्रायः अशान्तपन उत्पन्न होता है; और प्रेम में कमी आ जाती है यह एक मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ, लेकिन अगर संयम प्रेमबन्धन को अधिक दृढ़ बनाने के लिये

रक्खा जाय, प्रेम को शुद्ध बनाने के लिए तथा एक अधिक अच्छे काम के लिये वीर्य को जमा करने के अभिप्राय से किया जाय, तो वह अशान्तपन के स्थान पर शान्ति ही बढ़ावेगा और प्रेम-गांठ को ढीला न करके उलटे उसे मजबूत ही बनावेगा। यह दूसरी मनवृत्ति का प्रभाव हुआ। जो प्रेम पशुवृत्ति की तृप्ति पर आधारित है, वह आखिर स्वार्थपन ही है। और थोड़े से भी दबाव से वह ठंडा पड़ सकता है। फिर, यदि पशु-पक्षियों की संभोग-तृप्ति का आध्यात्मिक स्वरूप न दिया जाय, तो मनुष्यों में होनेवाली संभोग-तृप्ति को आध्यात्मिक स्वरूप क्यों दिया जाय? हम जो चीज जैसी है वैसी ही उसे क्यों न देखें? प्रति जाति को कायम रखने के लिए यह एक ऐसी क्रिया है, जिसकी ओर हम जबरदस्ती खींचे जाते हैं। हाँ, लेकिन मनुष्य अपवाद स्वरूप है, क्योंकि वही एक ऐसा प्राणी है जिसको ईश्वर ने मर्यादित स्वतंत्र इच्छा दी है और इसके बल से वह जाति की उन्नति के लिये, और पशुओं की अपेक्षा उच्चतर आदर्श की पूर्ति के लिये, जिसके लिये वह संसार में आया है, इन्द्रियभोग न करने की क्षमता रखता है। संस्कारवश ही हम यों मानते हैं कि सन्तानोत्पत्ति के कारण के सिवाय भी स्त्री-प्रसंग आवश्यक और प्रेम की वृद्धि के लिये इष्ट है। बहुतों का अनुभव यह है कि भोग ही के कारण किया हुआ स्त्री-प्रसंग प्रेम को न तो बढ़ाता है और न उसको स्थिर करने के लिये या उसको शुद्ध करने के लिए आवश्यक है। अलबत्ता ऐसे भी उदाहरण बहुत दिये जा सकते हैं कि जिनमें निग्रह से प्रेम और भी दृढ़ हो गया है। हाँ, इसमें कोई शक नहीं कि वह निग्रह पति और पत्नी के बीच आपस में आत्मिक उन्नति के लिये स्वेच्छा से किया जाना चाहिए। मानव समाज तो लगातार बढ़ती आनेवाली चीज या आध्यात्मिक विकास है। यदि मानव समाज इस तरह उन्नतिशील है, तो उसका आधार शारीरिक

वासनाओं पर दिन-ब-दिन ज्यादा अंकुश रखने पर निर्भर होना चाहिए। इस प्रकार से विवाह को तो एक ऐसी धर्मग्रंथि समझनी चाहिए जो कि पति और पत्नी दोनों पर अनुशासन करे और उन पर यह क़ैद लाज़िमी कर दे कि वे सदा अपने ही बीच में इन्द्रिय-भोग करेंगे, सो भी केवल संतति-जनन की गरज से-और उसी हालत में जब कि वे दोनों उस काम के लिये तैयार और इच्छुक हों। तब तो उक्त पत्र की दोनों बातों में संतति-जनन की इच्छा को छोड़कर इन्द्रियभोग का और कोई प्रश्न उठता ही नहीं है।

जिस प्रकार उक्त लेखक सन्तानोत्पत्ति के अलावा भी स्त्रीसंग को आवश्यक बतलाता है, उसी प्रकार अगर हम भी प्रारम्भ करें, तो तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है। परन्तु संसार के हर एक हिस्से में चन्द उत्तम पुरुषों के सम्पूर्ण संयम के दृष्टांतों की मौजूदगी में उक्त सिद्धान्त की कोई जगह नहीं है। यह कहना कि ऐसा संयम अधिकांश मानव-समाज के लिए कठिन है, संयम की शक्यता और इष्टता के विरुद्ध कोई दलील नहीं हो सकती। सौ वर्ष हुए जो मनुष्य के लिए शक्य न था, वह आज शक्य पाया गया है। और असीम उन्नति करने के निमित्त काल के चक्र में, जो हमारे सामने पड़ा है, सौ वर्ष की बिसात ही क्या! अगर वैज्ञानिकों का अनुमान सत्य है तो कल ही तो हमें आदमी का चोला मिला है। उसकी मर्यादा को कौन जानता है? और किसमें हिम्मत है कि कोई उसकी मर्यादा को स्थिर कर सके! निस्सन्देह हम नित्य ही भला या बुरा करने की निस्सीम शक्ति उसमें पाते हैं। अगर संयम की शक्यता और इष्टता मान ली जाय, तो हमको उसे करने योग्य साधनों को ढूँढ़ निकालने की कोशिश करनी चाहिए और जैसा कि मैं अपने किसी पिछले लेख में लिख चुका हूँ, अगर हम संयम से रहना चाहते हों तो हमें जीवनक्रम बदलना

आवश्यक है। लड्डू हाथ में रहे और पेट में भी चला जाय—यह कैसे हो सकता है? जननेन्द्रिय-संयम अगर हम करना चाहते हैं तो हमको अन्य इन्द्रियों का संयम भी करना होगा। अगर हाथ-पैर, नाक, कान, आँख इत्यादि की लगाम ढीली कर दी जाय तो जननेन्द्रिय-संयम असम्भव है। अशान्ति, हिस्टोरिया, सिड़ीपन भी, जिसके लिए लोग ब्रह्मचर्य को दूषित ठहराते हैं, हकीकतन अन्त में अन्य इन्द्रियों के असंयम से पैदा हुए ही निकलेंगे। कोई भी पाप, और प्राकृतिक नियमों का कोई भी उल्लंघन, बिना दंड पाये बच नहीं सकता। मैं शब्दों पर झगड़ना नहीं चाहता। अगर आत्म-संयम प्रकृति का उल्लंघन ठीक इसी तरह है, जिस तरह कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम उपाय हैं, तो भले ऐसा कहा जाता। लेकिन मेरा ख्याल तब भी यही बना रहेगा कि पहला उल्लंघन कर्त्तव्य है और इष्ट है; क्योंकि उसमें व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति होती है और इसके विपरीत दूसरे से उन दोनों का पतन। ब्रह्मचर्य, अतिशय संतति-संख्या नियमित करने के लिए, एक ही सच्चा रास्ता है। और स्त्री-प्रसंग के बाद संतति-वृद्धि रोकने के कृत्रिम साधनों का परिणाम जातिहत्या ही है।

अन्त में यदि खानों के मालिक गलत रास्ते पर होते हुए भी विजयी होंगे, तो इसलिए नहीं कि मजदूरों से उनकी संतति-संख्या बहुत बढ़ गई है, बल्कि इसलिये कि मजदूर लोगों ने सब इन्द्रियों के संयम का पाठ नहीं सीखा है। इन लोगों के बच्चे न पैदा होते तो उनको तरक्की के लिए उत्साह ही न होता। क्या उन्हें शराब पीने, जुआ खेलने, या तमाखू पीने की जरूरत है? और क्या यह कोई माकूल जवाब हो जायगा कि खदानों के मालिक इन्हीं दोषों से लिप्त रहते हुए भी उनके ऊपर हावी हैं? अगर मजदूर लोग पूंजीपतियों से बेहतर होने का दावा नहीं करते तो उनको

जगत की सहानुभूति माँगने का अधिकार ही क्या है ? क्या इसलिये कि पूंजीपतियों की संख्या बढ़े और साम्पत्तिवाद का हाथ मजबूत हो ? हमको प्रजावाद की दुहाई देने को यह आशा देकर कहा जाता है कि जब वह संसार में स्थापित होगा, तब हमको अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। इसलिए हमें लाज़िम है कि हम उन्हीं बुराइयों को स्वयं न करें, जिनका दोषारोपण हम पूंजीपतियों और सम्पत्तिवाद पर करना पसन्द करते हैं। मुझे दुःख के साथ यह बात मालूम है कि आत्मसंयम आसानी से नहीं किया जा सकता। लेकिन उसकी धीमी गति से हमें घबराना न चाहिए। जल्दबाजी से कुछ हासिल नहीं होता। अधैर्य से जनसाधारण में या मजदूरों में अत्यधिक सन्तानोत्पत्ति की बुराई बन्द न हो जायगी। मजदूरों के सेवकों के सामने बड़ा भारी काम पड़ा है। उनको संयम का वह पाठ अपने जीवन-क्रम से निकाल न देना चाहिए, जो कि मानव जाति के अच्छे-से-अच्छे शिक्षकों ने अपने अमूल्य अनुभव से हमको पढ़ाया है।

जिन मौलिक सिद्धांतों की विरासत उन्होंने हमें दी है, आधुनिक प्रयोगशालाओं से कहीं अधिक संपन्न प्रयोगशाला में उनका साक्षात्कार किया गया था। आत्म-संयम की शिक्षा उन सबों ने हमें दी है।

अप्राकृतिक व्यभिचार

कुछ साल पहले बिहार-सरकार ने अपने शिक्षा-विभाग की पाठ शालाओं में होनेवाले अप्राकृतिक व्यभिचार के सम्बन्ध में जाँच करवाई थी। जाँच-समिति ने इस बुराई को शिक्षकों तक में पाया था, जो अपनी स्वाभाविक वासना की तृप्ति के कारण विद्यार्थियों के प्रति अपने पद का दुरुपयोग करते हैं। शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने एक सरक्यूलर द्वारा शिक्षकों में पाई जानेवाली ऐसी बुराई के प्रतिकार करने का हुक्म निकला था। सरक्यूलर का जो परिणाम हुआ होगा—अगर कोई हुआ हो—वह अवश्य ही जानने लायक होगा।

मेरे पास इस सम्बन्ध में भिन्न प्रान्तों से साहित्य भी आया है, जिसमें इस और ऐसी ही अन्य बुराइयों की तरफ मेरा ध्यान खींचा गया है और कहा गया है कि यह प्रायः भारत भर के तमाम सार्वजनिक और प्राइवेट मदरसों में फैल गया है और बराबर बढ़ रहा है।

यह बुराई यद्यपि अस्वाभाविक है, तथापि इसकी विरासत हम अनन्तकाल से भोगते आ रहे हैं। तमाम छुपी बुराइयों का इलाज ढूँढ़ निकालना एक कठिन काम है। यह और भी कठिन बन जाता है, जब इसका असर बालकों के संरक्षक पर भी पड़ता है-और शिक्षक बालकों के संरक्षक हैं ही। प्रश्न होता है कि अगर प्राणदाता ही प्राणहारक हो जाय, तो फिर प्राण कैसे बचें? मेरी राय में जो बुराइयाँ प्रकट हो चुकती हैं, उनके सम्बन्ध में विभाग की ओर से बाजाब्ता कार्रवाई करना ही इस बुराई के प्रतिकार के लिए काफ़ी न होगा। सर्वसाधारण के मत को इस सम्बन्ध में सुसंगठित और सुसंस्कृत बनाना इसका एक मात्र उपाय है। लेकिन इस देश के कई मामलों में प्रभाव-शाली लोकमत जैसी कोई बात है ही नहीं। राजनैतिक

जीवन में असहाय अवस्था या बेबसी की जिस भावना का एकछत्र राज्य है, उसने देश के जीवन के सब क्षेत्रों पर अपना असर डाल रक्खा है। अतएव जो बुराइयाँ हमारी आँखों के सामने होती रहती हैं, उन्हें भी हम टाल जाते हैं।

जो शिक्षा-प्रणाली साहित्य योग्यता पर ही एकान्त जोर देती है, वह इस बुराई को रोकने के लिए अनुपयोगी ही नहीं है, बल्कि उससे उलटे बुराई को उत्तेजना ही मिलती है। जो बालक सार्वजनिक शालाओं में दाखिल होने से पहले निर्दोष थे, शाला के पाठ्यक्रम के समाप्त होते-होते वे ही दूषित, स्त्रैण, और नामर्द बनते देखे गये हैं। विहार-समिति ने 'बालकों के मन पर धार्मिक प्रतिष्ठा के संस्कार जमाने' की सिफारिश की है। लेकिन बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे? अकेले शिक्षक ही धर्म के प्रति आदर-भावना पैदा कर सकते हैं। लेकिन वे स्वयं इससे शून्य हैं। अतएव प्रश्न शिक्षकों के योग्य चुनाव का प्रतीत होता है। मगर शिक्षकों के योग्य चुनाव का अर्थ होता है, या तो अब से कहीं अधिक वेतन या फिर शिक्षा के ध्येय का कायापलट—याने शिक्षा को पवित्र कर्तव्य मानकर शिक्षकों का उसके प्रति जीवन अर्पण कर देना। रोमन कैथोलिकों में यह प्रथा आज भी विद्यमान है। पहला उपाय तो हमारे जैसे गरीब देश के लिए स्पष्ट ही असंभव है। मेरे विचार में हमारे लिए दूसरा मार्ग ही सुलभ है, लेकिन वह भी इस शासन-प्रणाली के आधीन रहकर सम्भव नहीं, जिसमें हर एक चीज़ की कीमत आँकी जाती है और जो दुनियाँ भर में ज्यादा से ज्यादा होती है।

अपने बालकों की नैतिक सुधारणा के प्रति माता-पिताओं की लापरवाही के कारण इस बुराई को रोकना और भी कठिन हो जाता है। वे तो बच्चों को स्कूल भेजकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते

हैं । इस तरह हमारे सामने का काम बहुत ही विषादपूर्ण है । लेकिन यह सोचकर आशा भी होती है कि तमाम बुराइयों का एक रामबाण उपाय है, और वह है—आत्मशुद्धि । बुराई की प्रचंडता से घबरा जाने के बदले हममें-से हर एक को पूरे-पूरे प्रयत्नपूर्वक अपने आस-पास के वातावरण का सूक्ष्म नीरीक्षण करते रहना चाहिए और अपने आपको ऐसे नीरीक्षण का प्रथम और मुख्य केन्द्र बनाना चाहिए । हमें यह सोचकर संतोष नहीं कर लेना चाहिए कि हममें दूसरों की सी बुराई नहीं है । अस्वाभाविक दुराचार कोई स्वतंत्र अस्तित्व की चीज़ नहीं है । वह तो एक ही रोग का भयंकर लक्षण है । अगर हममें अपवित्रता भरी है, अगर हम विषय की दृष्टि से पतित हैं, तो पहले हमें आत्मसुधार करना चाहिए और फिर पड़ोसियों के सुधार की आशा रखनी चाहिए । आज-कल तो हम दूसरों के दोषों के नीरीक्षण में बहुत पटु हो गये हैं और अपने आप को अत्यंत निर्दोष समझते हैं । परिणाम दुराचार का प्रसार होता है । जो इस बात के सत्य को महसूस करते हैं, वे इससे छूटें और उन्हें पता चलेगा कि यद्यपि सुधार और उन्नति कभी आसान नहीं होते; तथापि वे बहुत कुछ सम्भवनीय हैं ।

ब्रह्मचर्य्य के नैतिक लाभ

प्रो० मोन्टेगजा का मत है—

ब्रह्मचर्य्य से कई लाभ तत्काल होते हैं। उनका अनुभव यों तो सभी कर सकते हैं; पर नवयुवक विशेष रूप से। ब्रह्मचर्य्य से तुरंत ही स्मरण-शक्ति स्थिर और संग्राहक, बुद्धि उर्व्वरा और इच्छाशक्ति बलवान हो जाती है। मनुष्य के सारे जीवन में ऐसा रूपांतर हो जाता है, जिसकी कल्पना भी स्वेच्छाचारियों को कभी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य्य-जीवन में ऐसा विलक्षण सौंदर्य और सौरभ भर देता है कि सारा विश्व नए और अद्भुत रंग में रंगा हुआ-सा जान पड़ता है; और वह आनंद नित्य नवीन मालूम होता है। इधर, ब्रह्मचारी नवयुवकों की प्रफुल्लता, चित्त की शांति और चमक—उधर इन्द्रियों के दासों की अशांति, अस्थिरता और अस्वस्थता में कितना आकाश-पाताल का अंतर होता है! भला इन्द्रिय-संयम से भी कोई रोग होता हुआ कभी सुना गया है! परंतु इन्द्रियों के असंयम से होनेवाले रोगों को कौन नहीं जानता? शरीर तो सड़ ही जाता है। हमें यह न भूलना चाहिए कि उसमें भी बुरा परिणाम मनुष्य के मन, मस्तिष्क, हृदय और संज्ञाशक्ति पर होता है। स्वार्थ का प्रचार, इन्द्रियों की उद्दाम प्रवृत्ति, चारित्र्य की अवनति ही तो सर्वत्र सुनने में आती है।

इतना होने पर भी जो लोग वीर्य-नाश को आवश्यक मानते हैं, कहते हैं कि हमें शरीर का मन-माना उपयोग करने का पूरा अधिकार है, संयम का बंधन लगाकर आप हमारी स्वतंत्रता पर आक्रमण करते हैं, उन्हें उत्तर देते हुए लेखक ने कहा है कि समाज की उन्नति के लिये यह प्रतिबंध आवश्यक है।

उनका मत है—समाज-शास्त्री के लिये कर्मों के परस्पर

आघात-प्रतिघात का ही नाम जीवन है। इन कर्मों का परस्पर कुछ ऐसा अनिश्चित और अज्ञात संबंध है कि कोई एक भी ऐसा कर्म नहीं हो सकता है, जिसका कहीं अलग अस्तित्व हो। सभी जगह उसका प्रभाव पड़ेगा। हमारे गुप्त-से-गुप्त कर्मों, विचारों और मनोभावों का ऐसा गहरा और दूरवर्ती प्रभाव पड़ सकता है कि हमारे लिये उसकी कल्पना करना भी असंभव है। यह कोई हमारा अपना बनाया हुआ नियम नहीं है। यह तो मनुष्य का स्वभाव है—उसकी प्रकृति है। मनुष्य के सभी कामों के इस अटूट संबंध का विचार न करके कभी-कभी कोई समाज कुछ विषय में व्यक्ति को स्वाधीन बना देना चाहता है। पर उस स्वाधीनता को आचार का रूप देने से ही व्यक्ति अपने को छोटा बना लेता है—वह अपना महत्व खो देता है।

इसके बाद लेखक ने यह दिखलाया है कि जब हमें सब जगह सड़क पर थूँकने तक का अधिकार नहीं है, तो भला वीर्य रूपी इस महाशक्ति का मन-माना अपव्यय करने का अधिकार हमें कहाँ से मिल सकता है? क्या यह काम ऐसा है, जो ऊपर के बतलाए हुए समस्त कामों के पारस्परिक अटूट संबंध से अलग हो सके? सच पूछो तो इसकी गुरुता के कारण तो इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। मान लो, अभी एक नवयुवक और एक लड़की ने यह संबंध किया है। वे समझते हैं कि उसमें वे स्वतंत्र हैं—उस काम से और किसी को कुछ मतलब नहीं—वह केवल उन दोनों का ही है। वे अपनी स्वतंत्रता के भुलावे में पड़ कर यह समझते हैं कि इस काम से समाज का न तो कोई संबंध है और न समाज का उसपर कुछ नियंत्रण ही संभव है। पर यह उनका लड़कपन है। वे नहीं जानते कि हमारे गुप्त और व्यक्तिगत कर्मों का अत्यंत दूर के कामों पर भी कैसा भयावना प्रभाव पड़ता है। क्या इस प्रकार समाज को

तुम नष्ट करना चाहते हो! तुम चाहो या न चाहो, परंतु जब तुम केवल आनंद के लिए, अल्पस्थायी या अनुत्पादक ही सही, परन्तु योनि-संबंध स्थापित करने का अधिकार दिखलाते हो, तो तुम समाज के भीतर भेद और भिन्नता के बीज डालते हो। हमारे स्वार्थ या स्वच्छंदता से हमारी सामाजिक स्थिति बिगड़ी हुई तो है ही, परंतु अभी सब समाजों में ऐसा ही समझा जाता है कि संतान उत्पन्न करने की शक्ति के व्यवहार-सुख में जो दायित्व आ पड़ता है, उसे सब कोई प्रसन्नता-पूर्वक उठावेंगे। इस उत्तरदायित्व को भूल जाने से ही आज पूँजी और श्रम, मज़दूरी और विरासत, कर और सैनिक सेवा, प्रतिनिधित्व के अधिकार इत्यादि जटिल समस्याओं का जन्म हुआ है। इस भार को अस्वीकार करने से एकबारगी ही वह व्यक्ति समाज के सारे संगठन को हिला देता है। और इस प्रकार दूसरे का बोझा भारी कर आप हलका होना चाहता है। इसलिये वह किसी चोर, डाकू या लुटेरों से कम नहीं कहा जा सकता। अपनी इस शारीरिक शक्ति के सदुपयोग के लिये भी समाज के सामने हम वैसे ही उत्तरदायी हैं, जैसे अपनी और शक्तियों के लिये। हमारा समाज इस विषय में निरस्त्र है और इसलिये उसे हमारे अपने विवेक पर ही उसके उचित उपयोग का भार रखना पड़ा है। और इस कारण इसका उत्तरदायित्व तो कुछ और भी बढ़ जाता है।

स्वाधीनता का बाह्यरूप सुखद मालूम होता है; परंतु वास्तव में वह एक भार-सा है। इसका अनुभव तुम्हें पहली बार में ही हो जाता है। तुम समझते हो कि मन और विवेक दोनों एक हैं; यद्यपि दोनों में तुम्हारी ही शक्ति रहती है; परंतु प्रायः दोनों में बहुत भेद देखा जाता है। समय पर तुम किसको मानोगे? अपनी विवेक-बुद्धि की आज्ञा को, या नीच-से-नीच इन्द्रिय-भोग को? यदि इन्द्रिय-भोग पर विवेक की विजय होने में ही समाज की उन्नति है, तब तो तुम्हें

इन दोनों में-से एक बात को चुन लेने में कोई कठिनाई न होगी। परन्तु तुम यह कह सकते हो कि मैं शरीर और आत्मा दोनों की साथ-साथ पारस्परिक उन्नति के लिये भी कुछ-न-कुछ संयम तो तुम्हें करना ही पड़ेगा। पहले इन विलास से भावों को नष्ट कर दो तो पीछे तुम जो चाहोगे, हो सकोगे।

महाशय गैबरियल सीलेस कहते हैं—हम बार-बार कहते हैं कि हमें स्वतंत्रता चाहिए—हम स्वतंत्र होंगे। परन्तु हम नहीं जानते कि यह स्वतंत्रता कर्त्तव्य की कैसी कठोर बेड़ी बन जाती है। हमें यह नहीं ज्ञात है कि हमारी इस नक़ली स्वतंत्रता का अर्थ है, इन्द्रियों की दासता, जिससे हमें न तो कभी कष्ट का अनुभव होता है और इसलिये न कभी हम उसका विरोध ही करते हैं।

संयम में शांति है और असंमय तो अशांतिरूपी महाशत्रु का घर है। कामवासनाएँ यों तो सभी समय में कष्टदायी हो सकतीं हैं; परन्तु युवावस्था में तो यह महाव्याधि हमारी बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है। जिस नवयुवक का किसी स्त्री से पहले-पहल संबंध होता है, वह नहीं जानता कि वह अपने नैतिक, मानसिक और शारीरिक जीवन के अस्तित्व के साथ खेल कर रहा है। उसे यह भी नहीं ज्ञात है कि उसके इस काम की याद उसे बारबार आकर सताएगी और उसे अपनी इन्द्रियों की बड़ी बुरी दासता करनी पड़ेगी। कौन नहीं जानता कि एक-से-एक अच्छे लड़के, जिनसे भविष्य में बहुत कुछ आशा की जा सकती थी, नष्ट हो गए और उनके पतन का आरंभ उनके पहली बार के नैतिक पतन से ही हुआ था!

मनुष्य का जीवन उस बरतन के समान है, जिसमें तुम यदि पहली बूँद में ही मैला छोड़ देते हो तो फिर लाख पानी डालते रहो, सभी गंदा होता जायगा।

इङ्गलैंड के प्रसिद्ध शरीर-शास्त्री महाशय केंड्रिक ने भी तो कहा है—कामवासना की तृप्ति केवल नैतिक दोष पर ही नहीं है। उससे शरीर को भी हानि पहुँचती है। यदि इस इच्छा के सम्मुख तुम झुकने लगो, तो यह प्रबल होगी, और तुम्हारे ऊपर और अत्याचार करने लग जायगी। यदि तुम्हारा मन दोषी है तो तुम उसकी बातें सुनोगे और उसकी शक्ति बढ़ाते जाओगे।

ध्यान रक्खो कि कामवासना की प्रत्येक तृप्ति तुम्हारी दासता की जंजीर की एक नई कड़ी बन जायगी। फिर तो इस बेड़ी के तोड़ने का बल ही तुममें न रहेगा और इस तरह तुम्हारा जीवन एक अज्ञानजनित अभ्यास के कारण नष्ट हो जायगा। सबसे उत्तम उपाय तो उच्च विचारों को उत्पन्न करना और समस्त कार्यों में संयम से काम लेना ही है।

डाक्टर फैंक लिखते हैं—कामवासना के ऊपर मन और इच्छा का पूर्ण अधिकार रहता है। कारण, यह कोई अनिवार्य्य शारीरिक आवश्यकता नहीं है। यह तो केवल इच्छा-मात्र है। इसका पालन हम जान बूझ कर ही अपनी इच्छानुसार करते हैं—स्वभावतः नहीं।

ब्रह्मचर्य का रक्षक भगवान्

एक सज्जन पूछते हैं—आपने एक बार काठियावाड़ की यात्रा में किसी जगह कहा था कि मैं जो तीन बहनों से बच गया सो कल ईश्वर-नाम के भरोसे। इस सिल्सिले में 'सौराष्ट्र' ने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो समझ में नहीं आतीं। ऐसा कुछ लिखा है कि आप मानसिक पापवृत्ति से न बच पाये। इसका अधिक खुलासा करेंगे, तो कृपा होगी।

पत्र-लेखक से मेरा परिचय नहीं है। जब मैं बम्बई से रवाना हुआ तब उन्होंने यह पत्र अपने भाई के हाथ मुझे पहुँचाया। यह उनकी तीव्र जिज्ञासा का सूचक है। ऐसे प्रश्नों की चर्चा सर्व-साधारण के सामने आम तौर पर नहीं की जा सकती। यदि सर्व-साधारण जन मनुष्य के खानगी जीवन में गहरे पैठने का रिवाज डालें तो स्पष्ट बात है कि उसका फल बुरा आये बिना न रहे।

पर इस उचित या अनुचित जिज्ञासा से मैं नहीं बच सकता। मुझे बचने का अधिकार नहीं। इच्छा भी नहीं। मेरा खानगी जीवन सार्वजनिक हो गया है। दुनियाँ में मेरे लिये एक भी बात ऐसी नहीं है, जिसे मैं खानगी रख सकूं। मेरे प्रयोग आध्यात्मिक हैं। कितने ही नये हैं। उन प्रयोगों का आधार आत्मनिरीक्षण पर बहुत है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस सूत्र के अनुसार मैंने प्रयोग किये हैं। इसमें ऐसी धारणा समाविष्ट है कि जो बात मेरे विषय में सम्भवनीय है औरों के विषय में भी होगी। इसलिये मुझे कितने ही गुह्य प्रश्नों के भी उत्तर देने की जरूरत पड़ जाती है।

फिर पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए राम नाम की महिमा बताने

का भी अवसर मुझे अनायास मिलता है। उसे मैं कैसे खो सकता हूँ?

तो अब सुनिये, किस तरह मैं तीनों प्रसंगों पर ईश्वरकृपा से बच गया। तीनों प्रसंग वार-वधुओं से सम्बन्ध रखते हैं। दो के पास भिन्न-भिन्न अवसर पर मुझे मित्र लोग ले गये थे। पहले अवसर पर मैं झूठी शरम का मारा वहां जा फँसा और यदि ईश्वर ने न बचाया होता तो ज़रूर मेरा पतन हो जाता। इस मौके पर जिस घर में मैं ले जाया गया था, वहां उस स्त्री ने ही मेरा तिरस्कार किया। मैं यह बिल्कुल नहीं जानता कि ऐसे अवसरों पर किस तरह क्या बोलना चाहिए, किस तरह बरतना चाहिये। इसके पहले ऐसी स्त्रियां के पास तक बैठने में मैं लांछन मानता था। इससे इस घर में दाखिल होते समय भी मेरा हृदय कांप रहा था। मकान में जाने के बाद उसके चेहरे की तरफ भी मैं न देख सका। मुझे पता नहीं, उसका चेहरा था भी कैसा! ऐसे मूढ़ को वह चपला क्यों न निकाल बाहर करती? उसने मुझे दो-चार बातें सुनाकर रवाना कर दिया। उस समय तो मैंने यह न समझा कि ईश्वर ने बचाया। मैं तो खिन्न होकर दबे पाँव वहाँ से लौटा। मैं शरमिन्दा हुआ और अपना मूढ़ता पर मुझे दुःख भी हुआ। मुझे आभास हुआ मानों मुझमें कुछ राम नहीं है। पीछे मैंने जाना कि मेरी मूढ़ता ही मेरी ढाल थी। ईश्वर ने मुझे बेवकूफ बनाकर ही उबार लिया। नहीं तो मैं, जो कि बुरा काम करने के लिए गंदे घर में घुसा, कैसे बच सकता था?

दूसरा प्रसंग इससे भी भयंकर था। यहां मेरी बुद्धि पहले अवसर की तरह निर्दोष न थी। हालांकि सावधान ज्यादा था। फिर मेरी पूजनीया माताजी की दिलाई प्रतिज्ञा-रूपी ढाल भी मेरे पास थी। पर इस अवसर पर प्रदेश था बिलायत। मैं भर जवानी में था।

दूा मित्र एक घर में रहते थे। थोड़े ही दिन के लिये उस गांव में गये थे। मकान-मालकिन आधी वेश्या जैसी थी। उसके साथ हम दोनों ताश खेलने लगे। उन दिनों मैं समय मिल जाने पर ताश खेला करता था। विलायत में मां-बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते हैं। उस समय भी हमने ताश का खेल रिवाज के अनुसार अंगीकार किया। आरंभ तो बिलकुल निर्दोष था। मुझे तो पता भी न था कि मकान-मालकिन अपना शरीर बेंचकर आजीविका प्राप्त करती है। पर ज्यों-ज्यों खेल जमने लगा त्यों-त्यों रंग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय-चेष्टा शुरू की। मैं अपने मित्र को देख रहा था। उन्होंने मर्यादा छोड़ दी थी। मैं ललचाया। मेरा चहरा तमतमाया। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया था। मैं अधीर हो रहा था।

पर जिसे रखता है उसे कौन गिरा सकता है? राम उस समय मेरे मुख में तो न था; पर वह मेरे हृदय का स्वामी था। मेरे मुख में तो विषयोत्तेजक भाषा थी। इन सज्जन मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा। हम एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित थे। उन्हें ऐसे कठिन प्रसंगों की स्मृति थी जब कि मैं अपने ही इरादे से पवित्र रह सका था। पर इस मित्र ने देखा कि इस समय मेरी बुद्धि बिगड़ गयी है। उन्होंने देखा कि यदि इस रंगत में रात ज्यादा जायगी तो उनकी तरह मैं भी पतित हुए बिना न रहूँगा।

विषयी मनुष्यों में भी सु-वासनाएँ होती हैं। इस बात का परिचय मुझे इस मित्र के द्वारा पहले-पहल मिला। मेरी दीन दशा देखकर उन्हें दुःख हुआ। मैं उनसे उम्र में छोटा था। उनके द्वारा राम ने मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेमबाण छोड़े—"मोनिया! (यह मोहन-दास का दुलार का नाम है। मेरे माता, पिता, तथा हमारे कुटुम्ब

के सबसे बड़े चचेरे भाई, मुझे इसी नाम से पुकारते थे। इस नाम के पुकारनेवाले चौथे ये मित्र मेरे धर्मभाई साबित हुए) मोनिया, होशियार रहना ! मैं तो गिर चुका हूँ, तुम जानते ही हो। पर तुम्हें न गिरने दूँगा। अपनी माँ के पास की प्रतिज्ञा याद करो। यह काम तुम्हारा नहीं। भागो यहाँ से, जाओ अपने बिछौना पर। हटो, ताश रख दो !"

मैंने कुछ जवाब दिया या नहीं, याद नहीं पड़ता। मैंने ताश रख दिये। जरा दुःख हुआ। लज्जित हुआ। छाती धड़कने लगी। उठ खड़ा हुआ। अपना बिस्तर सँभाला।

मैं जगा। राम नाम शुरू हुआ। मन में कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया, धन्य प्रतिज्ञा ! धन्य माता ! धन्य मित्र ! धन्य राम ! मेरे लिये तो यह चमत्कार ही था। यदि मेरे मित्र ने मुझ पर रामबाण न चलाये होते तो मैं आज कहाँ होता !

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे
प्रेम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे

मेरे लिये तो यह अवसर ईश्वर-साक्षात्कार था।

अब यदि मुझे संसार कहे कि ईश्वर नहीं, राम नहीं, तो मैं उसे झूठा कहूँगा। यदि उस भयंकर रात को मेरा पतन हो गया होता तो आज मैं सत्याग्रह की लड़ाइयाँ न लड़ा होता, तो मैं अस्पृश्यता के मैल को न धोता होता, मैं चरखे की पवित्र ध्वनि न उच्चार करता होता, तो आज मैं अपने को करोड़ों स्त्रियों के दर्शन करके पावन होने का अधिकारी न मानता होता, तो मेरे आसपास—जैसे किसी बालक के आसपास हो—लाखों स्त्रियां आज निःशंक होकर न बैठती होतीं। मैं उनसे दूर भागता होता और वे भी मुझसे दूर रहतीं और यह उचित भी था। अपनी जिन्दगी का सबसे अधिक भयंकर समय

मैं इस प्रसंग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने संयम सीखा। राम को भूल जाते हुए मुझे राम के दर्शन हुए। अहो!

रघुबीर तुमको मेरी लाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिए पारउतारो जहाज॥

तीसरा प्रसंग हास्यजनक है। एक यात्रा में जहाज के कप्तान के साथ मेरा मेल-जोल हो गया। एक अंगरेज यात्री के साथ भी जहाँ-जहाँ जहाज बन्दर करता वहाँ-वहाँ कप्तान और कितने ही यात्री वेश्याघर तलाश करते। कप्तान ने अपने साथ मुझे बन्दर देखने चलने का न्यौता दिया। मैं उसका अर्थ नहीं समझता था। हम एक वेश्या के घर के सामने आकर खड़े हो गये। तब मैंने समझा कि बन्दर देखने जाने का अर्थ क्या है। तीन स्त्रियाँ हमारे सामने खड़ी की गयीं। मैं तो स्तम्भित हो गया। शर्म के मारे न कुछ बोल सका, न भाग सका। मुझे विषयेच्छा तो ज़रा भी न थी। वे दो तो कमरे में दाखिल हो गये। तीसरी बाई मुझे अपने कमरे में ले गयी। मैं विचार ही कर रहा था कि क्या करूँ—इतने में दोनों बाहर आये। मैं नहीं कह सकता, उस औरत ने मेरे सम्बन्ध में क्या ख्याल किया होगा। वह मेरे सामने हँस रही थी। मेरे दिल पर उसका कुछ असर न हुआ। हम दोनों की भाषा भिन्न थी। सो मेरे बोलने का काम तो वहाँ था ही नहीं। उन मित्रों ने मुझे पुकारा तो मैं बाहर निकल आया। कुछ शरमाया तो ज़रूर। उन्होंने अब मुझे ऐसी बातों में बेवकूफ़ समझ लिया। उन्होंने अपने आपस में मेरी दिल्लगी भी उड़ाई। मुझ पर रहम तो ज़रूर खाया। उस दिन से मैं कप्तान के नज़दीक दुनियाँ के बुद्धुओं में शामिल हुआ। फिर उसने मुझे बन्दर देखने का न्यौता कभी न दिया। यदि मैं अधिक समय वहाँ रहता, अथवा उस बाई की भाषा

मैं जानता होता तो मैं नहीं कह सकता, मेरी क्या हालत होती। पर इतना तो मैं जान ही सका कि उस दिन भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल पर न बचा था—बल्कि ईश्वर ने ही मुझे ऐसी बातों में मूढ़ रखकर बचाया।

उस भाषण के समय मुझे तीन ही प्रसंग याद आये थे। पाठक यह न समझें कि और प्रसंग मुझ पर न बीते थे—मैं यह तो जरूर कहना चाहता हूँ कि हर अवसर पर मैं राम-नाम के बल पर बचा हूँ। ईश्वर खाली हाथ जानेवाले निर्बल को ही बल देता है।

> जब लग गज बल अपनो बरत्यो,
> नेक सरयो नहिं काम।
> निर्बल होय बल राम पुकारयो,
> आये आधे नाम॥

तब यह रामनाम है क्या चीज़? क्या तोते की तरह रटना? हरगिज़ नहीं। यदि ऐसा हो तो हम सब का बेड़ा रामनाम रटकर पार हो जाय। रामनाम उच्चारण तो हृदय से ही होना चाहिये। फिर उसका उच्चारण शुद्ध न हो तो हर्ज नहीं। हृदय की तोतली बोली ईश्वर के दरबार में क़बूल होती है। हृदय भले ही 'मरा मरा' पुकारता रहे—फिर भी हृदय से निकली पुकार जमा के सीगे में जमा होगी। पर यदि मुख रामनाम का शुद्ध उच्चारण करता होगा, और हृदय का स्वामी होगा रावण, तो वह शुद्ध उच्चारण भी नाम के सीगे में दर्ज न होगा।

'मुख में राम बगल में छुरी' वाले बगला भगत के लिये राम-नाम-महिमा तुलसीदास ने नहीं गाई। उनके सीधे पासे भी उलटे पड़ेंगे। 'बिगरी' का सुधारनेवाला राम ही है और इसी से भक्त सूरदास ने गाया:—

बिगरी कौन सुधारे,
राम बिन बिगरी कौन सुधारे रे।
बनी बनी के सब कोई साथी,
बिगरी के नहिं कोई रे॥

इसलिये पाठक खूब समझ लें कि रामनाम हृदय का बोल है। जहाँ वाचा और मन में एकता नहीं, वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है दम्भ है, शब्दजाल है। ऐसे उच्चारण से चाहे संसार भले धोखा खा जाय; पर अन्तर्यामी राम कहीं खा सकता है? सीता की दी हुई माला के मनके हनुमान ने फोड़ डाले; क्योंकि वे देखना चाहते थे कि अन्दर रामनाम है या नहीं? अपने को समझदार समझनेवाले सुभटों ने उनसे पूछा—सीताजी की माला का ऐसा अनादर? हनुमान ने जवाब दिया—यदि उसके अन्दर राम-राम न होगा तो वह सीताजी का दिया होने पर भी, यह हार मेरे लिये भार-भूत होगा। तब उन समझदार सुभटों ने मुँह बनाकर पूछा—तो क्या तुम्हारे भीतर रामनाम है? हनुमान ने छुरी से तुरन्त अपना हृदय चीरकर दिखाया और कहा—देखो अन्दर रामनाम के सिवा और कुछ हो तो कहना। सुभट लज्जित हुए। हनुमान पर पुष्पवृष्टि हुई। और उस दिन से रामकथा के समय हनुमान का आवाहन आरम्भ हुआ।

हो सकता है यह कथा काव्य या नाटककार की रचना हो; परन्तु उसका सार अनन्त काल के लिये सच्चा है। जो हृदय में है वही सच है।

———

अखंड ब्रह्मचर्य्य

अखंड ब्रह्मचर्य्य के संबंध में ब्यूरो महाशय लिखते हैं—विषय-वासना की दासता से छुटकारा प्राप्त करनेवाले वीरों में सबसे पूर्व उन युवकों तथा युवतियों का नाम लिया जाता है, जिन्होंने किसी महत् कार्य की सिद्धि के लिये जीवन भर अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य्य पालन का व्रत ले लिया है। उनके उस व्रत के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। कोई तो अपने अनाथ भाई-बहनों के लिये माता-पिता का स्थान ले लेता है, कोई अपनी ज्ञान-पिपासा की शांति के लिये जीवन उत्सर्ग करना चाहता है। कोई रोगियों एवं दीन-दुखियों की सेवा में, कोई धर्म, जाति अथवा शिक्षा की सेवा में ही अपना जीवन लगा देने की अभिलाषा रखता है। इस व्रत के पालन में किसी को तो अपने मन के विकारों से लड़ाई लड़नी पड़ती है और किसी के लिये, कभी-कभी सौभाग्य से, पहले ही से पथ निर्दिष्ट रहता है। वे या तो अपने मन में यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं, या भगवान को साक्षी बना लेते हैं कि जो उद्देश्य उन्होंने चुन लिया, सो चुन लिया। अब विवाह की चर्चा भी चलाना व्यभिचार होगा। एक बार माइकेल एंजेलो से, जो एक प्रसिद्ध चित्रकार थे, किसी ने कहा कि तुम अब ब्याह कर लो, तो उसने उत्तर दिया—चित्रकला मेरी ऐसी पत्नी है, जो किसी भी सौत का आगमन कभी सहन नहीं कर सकती।

मैं अपने योरोपियन मित्रों के अनुभव से ब्यूरो कथित प्रायः सभी प्रकार के पुरुषों का उदाहरण देकर, उनकी इस बात का समर्थन कर सकता हूँ कि बहुतेरे मित्रों ने जीवन भर के लिये ब्रह्मचर्य्य का पालन किया है। भारतवर्ष को छोड़कर और किसी भी देश में बाल्यकाल से ही बच्चों को विवाह की बातें नहीं सुनाई जातीं।

भारतवर्ष में तो माता-पिता की यही इच्छा रहती है कि लड़के का विवाह कर दिया जाय और उसके जीवन-निर्वाह के साधन का उचित प्रबंध हो जाय। पहली बात असमय में ही बुद्धि और शरीर के नाश करने का कारण होती है और दूसरी से आलस्य आकर घेर लेता है। प्रायः दूसरों की कमाई पर जीवन बिताने की भी आदत पड़ जाती है। यहाँ तक कि हम ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन और दरिद्रता के स्वीकार करने को मनुष्य-कोटि के कर्त्तव्य से परे मान बैठते हैं। हम कहने लगते हैं कि यह काम तो केवल योगी और महात्माओं से होना संभव है। योगी और महात्मा तो असाधारण पुरुष ही होते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जो समाज ऐसी पतित दशा में है, उसमें सच्चे योगी और महात्माओं का होना ही असंभव है। सदाचार की गति यदि कछुए की गति के समान मंद और बेरोक है तो दुराचार की गति खरगोश के समान द्रुत-गामिनी है। पश्चिम के देशों से व्यभिचार का मसाला हमारे पास विद्युत्गति से दौड़ा चला आता है और अपनी मनोहर चमक-दमक से हमारी आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता है। तब हम सत्य को भूल जाते हैं। पश्चिमी तारों के द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षण में जो वस्तुएं यहाँ आती हैं, प्रति दिन विदेशी माल के भरे हुए जो जहाज यहाँ उतरते हैं, उनके द्वारा जो चमक-दमक यहाँ आती है, उसे देखकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते रहने में हमें लज्जा तक आने लगती है, यहाँ तक कि निर्धनता और सादगी को हम पाप कहने को तैयार हो जाते हैं। परंतु भारतवर्ष में पश्चिम का जो दर्शन होता है, यथार्थ में पश्चिम वैसा नहीं है। दक्षिणी अफ़रीका के गोरे वहाँ के निवासी थोड़े से भारतीयों को ही देखकर जिस प्रकार भारतीयों के चरित्र की कल्पना करने में भूल करते हैं, उसी प्रकार हम भी इन थोड़े से नमूनों से समस्त पश्चिम की

कल्पना करके भूल करते हैं। जो इस भ्रम के पर्दे को हटाकर भीतरी स्थिति का अवलोकन कर सकते हैं, वे देखेंगे कि पश्चिम में भी सदाचार और पवित्रता के, कुछ छोटे से किंतु अबोध, निर्झर अवश्य हैं। उस महामरुभूमि में तो ऐसे झरने हैं, जहाँ कोई भी पहुँचकर जीवन का पवित्र-से-पवित्र अमृतोपम जल-पान कर संतोष लाभ कर सकता है। वहाँ के निवासी ब्रह्मचर्य और निर्धनता का व्रत अपनी इच्छा से लेकर जीवनभर उसका निर्वाह करते हैं। साथ ही वे कभी इस व्रत के कारण भूलकर भी अभिमान नहीं करते, उसका हल्ला नहीं मचाते। वे यह सब बड़ी नम्रता के साथ अपने किसी आत्मीय अथवा स्वदेश की सेवा के लिये करते हैं। पर हम लोग धर्म की बातें इस तरह किया करते हैं, मानों धर्म और आचरण में कोई संबंध ही न हो। और वह धर्म भी केवल हिमालय के एकांतवासी योगियों के लिये ही है! हमारे दैनिक जीवन के आचार एवं व्यवहार पर जिस धर्म का कोई प्रभाव न हो, वह धर्म एक हवाई ख्याल के सिवा और कुछ नहीं है। सभी नवयुवा पुरुष-स्त्रियों को यह जान लेना चाहिए कि अपने निकटवर्ती वातावरण को पवित्र बनाना और अपनी कमजोरी को दूर करके ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना उनका मुख्य कर्तव्य है। उनको यह भी समझ लेना चाहिए कि यह कार्य उतना कठिन भी नहीं है, जितना वे सुनते आ रहे हैं।

ब्यूरो महाशय लिखते हैं कि यदि हम यह मान भी लें कि विवाह करना आवश्यक ही होता है, तो भी सभी पुरुष न तो विवाह कर ही सकते हैं और न सबके लिये यह आवश्यक और उचित ही कहा जा सकता है। इसके सिवा कुछ लोग ऐसे भी तो होते हैं, जिनके लिये ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के सिवा और कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने

व्यवसाय अथवा दरिद्रता के कारण विवाह नहीं कर पाते। कितने ही विवाह न करने को इसलिये विवश होते हैं कि उन्हें अपने योग्य वर अथवा कन्या नहीं मिलती। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें कोई ऐसा रोग होता है जिसका असर उनकी संतान पर पड़ जाने का खतरा रहता है। इसके सिवा और भी कुछ ऐसे कारण भी होते हैं, जिनसे विवाह करने का विचार ही त्याग देना पड़ता है। किसी उत्तम कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिये असक्त एवं संपन्न स्त्री-पुरुषों के ब्रह्मचर्य्य-व्रत से उन लोगों को भी अपने व्रत-पालन में अवलंब प्राप्त होता, जो विवश होकर ब्रह्मचारी बने रहते हैं। जो अपनी इच्छानुसार ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण करता है-उसे अपना जीवन कभी अपूर्ण नहीं प्रतीत होता। वरन् वह तो ऐसे ही जीवन को उच्च किंवा परमानंद पूर्ण जीवन मानता है। क्या विवाहित और क्या अविवाहित दोनों तरह के ब्रह्मचारियों को उनके व्रत-पालन में उससे उत्साह भी मिलता है। वह उनका मार्ग-दर्शक बनता है।

अब ब्यूरो महाशय फोर्टर का मत इस प्रकार देते हैं—

ब्रह्मचर्य्य-व्रत विवाह संस्था का बड़ा सहायक होता है। कारण, यह विषय-वासना और विकारों से मनुष्य की मुक्ति का चिह्न है। इसे देखकर विवाहित दंपति यह समझते हैं कि वे परस्पर एक दूसरे की काम-वासना की ही पूर्ति के साधन नहीं हैं, वरन् कामेच्छा के रखते हुए भी वे स्वतंत्र हैं और उनकी आत्मा भी मुक्त है। जो लोग ब्रह्मचर्य्य का मज़ाक उड़ाया करते हैं, वे यह नहीं जानते कि इस प्रकार वे व्यभिचार और बहु-विवाह का समर्थन किंवा पोषण करते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि विषय-वासना को तृप्त करना बहुत आवश्यक है तो फिर विवाहित दंपति से पवित्र जीवन बिताने

की आशा किस प्रकार की जा सकती है ? ये यह भूल ही जाते हैं कि रोग के वश अथवा किसी अन्य कारण से, कभी-कभी स्त्री-पुरुष में-से एक की कमज़ोरी के कारण, दूसरे के लिये जीवनभर को ब्रह्मचारी रहना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। यदि और दृष्टि से न सही, तो केवल इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य की जितनी गरिमा हम स्वीकार करते हैं, उतनी ही उच्चता पर हम एक पत्नी-व्रत के आदर्श को आसीन कर देते हैं।

ब्रह्मचर्य्य और आरोग्यता

आरोग्य की बहुतेरी कुञ्जियाँ हैं और उनकी आवश्यकता है; पर उसकी मुख्य कुञ्जी ब्रह्मचर्य्य है। अच्छा भोजन और स्वच्छ पानी इत्यादि से हम आरोग्य लाभ कर सकते हैं। पर जिस प्रकार हम जितना अर्जन करें, उतना ही उड़ा दें, तो कुछ बचत न होगी, उसी प्रकार हम जितना आरोग्य लाभ करें, उतना ही नष्ट कर दें, तो क्या बचत होगी? इसलिये स्त्री और पुरुष दोनों को आरोग्य रूपी धन-संचय के लिये ब्रह्मचर्य की पूर्ण आवश्यकता है। इसमें किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता। जिसने अपने वीर्य्य का रक्षण किया है, वही वीर्यवान् कहला सकता है।

अब प्रश्न यह है कि ब्रह्चर्य है क्या? पुरुष का स्त्री से और स्त्री का पुरुष से भोग न करना ही ब्रह्मचर्य्य है। 'भोग न करने का' अर्थ यह नहीं है कि एक दूसरे को विषय की इच्छा से स्पर्श न करे, वरन इस विषय का विचार भी न करें; यहाँ तक कि इसके संबंध में स्वप्न तक न देखें। पुरुष स्त्री और स्त्री पुरुष को देखकर विह्वल न हो जाय। प्रकृति ने हमें जो गुप्त शक्ति प्रदान की है—उसका दमनकर अपने शरीर में ही संग्रहकर हमें उसका उपयोग अपनी आरोग्य-वृद्धि में करना चाहिए। और यह आरोग्य केवल शरीर का ही नहीं, मन, बुद्धि और स्मरण-शक्ति का भी होना चाहिए।

आइए, अब जरा देखें कि हमारे आस-पास कौतुक हो रहा है। छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष प्रायः इस मोह-नद में डूबे पड़े हैं। हम प्रायः कामेंद्रिय के दास बन जाते हैं। बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, आँखों पर परदा-सा पड़ जाता है, और हम कामांध हो जाते हैं। कामोन्मत्त स्त्री-पुरुष लड़के-लड़कियों को मैंने बिलकुल पागल-समान देखा है। मेरा अपना अनुभव भी इससे भिन्न नहीं है। जब-जब मैं

उस दशा को पहुँचा हूँ, तब-तब मैं अपनी सुध-बुध तक भूल गया हूँ! यह वस्तु ही ऐसी है। एक रत्ती सुख के लिये हम मन भर से भी अधिक बल पल भर में खो बैठते हैं। मद उतरने पर हम अपना खज़ाना खाली पाते हैं। दूसरे दिन सबेरे हमारा शरीर भारी रहता है, सच्चा आराम नहीं मिलता, शरीर सुस्त मालूम होता है, मन ठिकाने नहीं रहता। फिर ज्यों-के-त्यों बनने के लिये हम दूध का काढ़ा पीते हैं, गजवेलिका चूर्ण और याक़ूतिया (मोती पड़ी हुई पुष्टिकारक दवाइयाँ) खाते हैं और वैद्यों के पास जाकर पौष्टिक दवा माँगते हैं। सदा इस खोज और छान-बीन में रहते हैं कि क्या खाने से कामोद्दीपन होगा? इसी प्रकार दिन और वर्ष बिताते-बिताते हम शरीर-शक्ति और बुद्धि से हीन होते जाते हैं और वृद्धावस्था में बिलकुल ही बुद्धिहीन हो जाते हैं।

किंतु सच पूछिये बुद्धि बुढ़ापे में मंद होने के बदले और तीव्र होनी चाहिये। हमारी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि इस शरीर द्वारा प्राप्त अनुभव हमारे तथा दूसरों के लिये लाभदायक हो सकें। ब्रह्मचर्य्य-पालन करनेवालों की ऐसी ही स्थिति रहती है। न तो उन्हें मृत्यु का भय ही रहता है और न वे मरते दम तक ईश्वर को ही भूलते हैं। वे मृत्यु के समय यंत्रणा नहीं भोगते। वे हँसते-हँसते शरीर त्यागकर भगवान को अपना हिसाब देने चले जाते हैं। वही सच्चे पुरुष हैं और इसके प्रतिकूल मरनेवाले क्लीवत् हैं। इन्हीं का आरोग्य यथार्थ समझा जायगा।

हम इस साधारण-सी बात को नहीं सोचते कि संसार में प्रमाद, मत्सर, अभिमान, आडंबर, क्रोध, अधीरता आदि विषयों का मूल कारण ब्रह्मचर्य का भंग ही है। मन के वश में न रहने से और नित्य बार-बार बच्चों से भी अधिक अबोध बन जाने से हम जान

या अनजान में कौन-सा अपराध न कर बैठेंगे, वह कौन-सा घोर पाप कर्म होगा, जिसे करने में आगा-पीछा सोचेंगे ?

पर क्या किसी ने ऐसे ब्रह्मचारी को देखा है ? कुछ लोग यह भी समझते हैं कि सब लोग यदि ऐसा ब्रह्मचर्य पालन करने लगें, तो संसार का सत्यानाश न हो जाय ! इस संबंध में विचार करने पर धर्म-चर्चा का विषय आ जाने की संभावना है। इसलिये इसे छोड़कर यहाँ केवल सांसारिक दृष्टि से ही विचार किया जायगा। हमारे मत में इन दोनों प्रश्नों की जड़ में हमारी कायरता और मिथ्या भय है। हम ब्रह्मचर्य का पालन करना नहीं चाहते, इसलिये उसमें-से निकल भागने के बहाने ढूँढ़ा करते हैं। ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले संसार में अनेक हैं, पर यदि वे साधारणतया मिल जाँय तो उनका मूल्य ही क्या रहे ? हीरा निकालने में सहस्रों मजदूरों को पृथ्वी के अंदर खानों में घुसना पड़ता है, तब कहीं पर्वताकार कंकड़ियों के ढेर से केवल मुट्ठी भर हीरे मिलते हैं। अब ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले हीरे की खोज में कितना प्रयत्न करना चाहिए, यह बात सब लोग त्रैराशिक लगाकर उसके उत्तर द्वारा जान सकेंगे। ब्रह्मचर्य पालन करने में यदि संसार का नाश भी होता हो, तो इससे हमें क्या ? हम ईश्वर तो हैं नहीं कि संसार की चिंता करें। जिसने उसे बनाया है वह उसे सँभालेगा। यह देखने की भी आवश्यकता नहीं कि अन्य लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं या नहीं। हम व्यापार, वकालत और डॉक्टरी आदि पेशों में पड़ते समय तो कभी इसका विचार नहीं करते कि यदि सब लोग व्यापारी, वकील अथवा डॉक्टर हो जाँय तो क्या होगा ! जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे उन्हें अंत में समयानुसार दोनों प्रश्नों का उत्तर अपने आप मिल जायगा।

सांसारिक पुरुष इन विचारों के अनुसार कैसे चल सकता है? विवाहित पुरुष क्या करें? बाल-बच्चेवालों को कैसे चलना चाहिए? काम-शक्ति जिनके वश नहीं रहती वे क्या करें? इस विषय में जो सबसे उत्तम उपाय बतलाया जा चुका है, उस आदर्श को सामने रखकर हम ठीक वैसा ही अथवा उससे न्यूनतर कर सकते हैं। लड़कों को जब अक्षर लिखना सिखाया जाता है तो उनके सामने अक्षर का उत्तम रूप रक्खा जाता है, वे अपनी शक्ति के अनुसार उसकी हूबहू या उससे मिलती-जुलती नक़लें उतारते हैं। इसी तरह हम भी अखंड ब्रह्मचर्य्य का आदर्श अपने सामने रखकर उसकी नक़ल करते-करते अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर उसमें पूर्णतया प्राप्त कर सकेंगे। विवाह यदि हो गया है तो क्या हुआ, प्रकृति के नियमानुसार जब तुम दोनों को संतानोत्पत्ति की इच्छा हो, तभी तुम्हें ब्रह्मचर्य्य तोड़ना चाहिए। जो लोग इस प्रकार विचारकर दो-चार-छः वर्ष में कभी एक बार ब्रह्मचर्य्य का नियम भंग करेंगे, वे बिलकुल कामांध नहीं बनेंगे और उनके पास वीर्यरूपी धन इकट्ठा रह सकेगा। पर ऐसे स्त्री-पुरुष भाग्य ही से मिलेंगे, जो केवल संतान उत्पन्न करने के लिये काम-भोग करते हैं। शेष सहस्रों मनुष्य तो विषय-वासना तृप्त करने के लिये ही भोग करते हैं और परिणाम में उनकी इच्छा के विरुद्ध संतति उत्पन्न हो जाती है। विषय-भोग के समय हम ऐसे अंधे हो जाते हैं कि आगे का विचार नहीं करते। इस विषय में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक दोषी हैं। वे अपने उन्माद में भूल बैठते हैं कि दुर्बल है और उसमें संतान के पालन-पोषण की शक्ति नहीं है। पश्चिमी लोगों ने तो इस विषय में मर्यादा ही भंग कर दी है। वे अपने भोग-विलास के लिये संतान उत्पन्न होने की दशा में उसके बोझ से बचने के लिये अनेक उपचार करते हैं। वहाँ इस विषय पर अनेक पुस्तकें

लिखी गई हैं, वहाँ ऐसे व्यवसायी भी पड़े हैं जिनका लोगों को यह बतलाना ही एक पेशा है कि अमुक काम करने से विषय-भोग करते हुए भी संतति न उत्पन्न होगी। हम लोग अभी इस पाप से मुक्त हैं, पर अपनी स्त्रियों पर बोझ लादते समय हम संतति के निर्बल, वीर्यहीन, पागल और निर्बुद्धि होने की ज़रा भी परवा नहीं करते। वरन् संतति होने पर ईश्वर का गुणगान करते हैं। अपनी दरिद्र दशा को छिपाने का हमने यह एक ढंग बना लिया है।

निर्बल, लूली, लँगड़ी, विषयी और निस्सत्व संतान का होना ईश्वरीय कोप ही तो है। बारह वर्ष की लड़की के संतान हो इसमें हमारे आनन्द मानने की कौन-सी बात धरी है, जिसके लिये ढोल पीटे जाँय। बारह वर्ष की लड़की का माता बन जाना ईश्वर का महाकोप है या और कुछ? तुरंत के बोए हुए पेड़ में जो फल लगते हैं वह निर्बल होते हैं, यह सब लोग जानते हैं। यही कारण है कि हम भांति-भांति के उपाय करके उनमें फल नहीं लगने देते। पर बालक स्त्री और बालक वर से संतान उत्पन्न होने पर हम आनंद मनाते हैं। यह हमारी नीरी मूर्खता नहीं तो और क्या है? भारत में अथवा संसार के किसी अन्य भाग में अगर नपुंसक बालक चीटियों के समान भी बढ़ जाँय, तो उनमें हिंदुस्तान अथवा संसार का क्या लाभ होगा? हमसे तो वे पशु ही भले हैं जिनमें नर और मादा का संयोग तभी कराया जाता है, जब उनसे बच्चे उत्पन्न कराने होते हैं।

संयोग के बाद, गर्भ-काल में, और फिर जन्म के बाद, जब तक बच्चा दूध छोड़कर बड़ा नहीं होता, तब तक का समय नितांत पवित्र मानना चाहिए। इस काल में स्त्री और पुरुष दोनों को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना अनिवार्य्य है। पर हम इस संबंध में

घड़ी भर भी विचार किए बिना, अपना काम करते ही चले जाते हैं ! हमारा मन कितना रोगी है ! इसी का नाम है असाध्य रोग। यह रोग हमें मृत्यु से मिला रहा है। जब तक वह नहीं आती, हम बावले-जैसे मारे-मारे फिरते हैं। विवाहित स्त्री-पुरुषों का यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने विवाह का भ्रामक अर्थ न करते हुए, उसका शुद्ध अर्थ लगावें, और जब सचमुच संतान न हो तो वंशवृद्धि की इच्छा से ही ब्रह्मचर्य का भंग करें।

हमारी दयनीय दशा में ऐसा करना बहुत कठिन है। हमारी खुराक, रहन-सहन, हमारी बातें, हमारे आसपास के दृश्य सभी हमारी विषय-वासना को जगानेवाले हैं। हमारे ऊपर विषय का नशा चढ़ा रहता है। ऐसी स्थिति में विचार करके भी हम इस रोग से कैसे मुक्त रह सकते हैं ? पर ऐसी शंका उत्पन्न करनेवालों के लिये यह लेख नहीं लिखा गया है। यह लेख तो उन्हीं के लिये है, जो विचार करके काम करने को तैयार हों। जो अपनी स्थिति पर संतोष किए बैठे हों, उन्हें तो इसे पढ़ना भी भार मालूम होगा। पर जो अपनी दयनीय दशा से घबरा उठे हैं, उन्हीं की सहायता करना इस लेख का उद्देश्य है।

उपर्युक्त लेख से हम यह समझ सकते हैं कि ऐसे कठिन समय में अविवाहितों को ब्याह करना ही न चाहिए। और यदि बिना विवाह किए काम न चले तो जहाँ तक हो सके, देर करके करना चाहिए। नवयुवकों को पचीस वर्ष की उम्र से पहले विवाह न करने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। आरोग्य-प्राप्ति के लाभ को छोड़कर इस व्रत से होनेवाले दूसरे अन्य लाभों का यहाँ हम विचार नहीं करते; पर प्रयोग करके उनका अनुभव तो सभी उठा सकते हैं।

जो माँ-बाप इस लेख को पढ़ें, उनसे मुझे यह कहना है कि

बचपन में अपने बच्चों का विवाह करना उन्हें बेच डालना है। अपने बच्चों का हित देखने के बदले वे अपना ही अंध स्वार्थ देखते हैं। उन्हें तो आप बड़ा बनना है, अपने बंधु-बांधवों में नाम कमाना है, लड़के का ब्याह करके तमाशा देखना है। लड़के का कल्याण देखें, तो उसका पढ़ना-लिखना देखें, उसका यत्न करें, उसका शरीर बनावें। पर ऐसे समय गृहस्थी के जंजाल में डाल देने से बढ़कर उसका दूसरा कौन-सा बड़ा अपकार हो सकता है?

विवाहित स्त्री और पुरुष में से एक का देहांत हो जाने पर दूसरे का वैधव्य का पालन करने में भी स्वास्थ्य को लाभ ही होता है। कितने ही डॉक्टरों की राय है कि जवान स्त्री या पुरुष को वीर्यपात करने का अवसर मिलना ही चाहिए। दूसरे कई डॉक्टर कहते हैं कि किसी भी हालत में वीर्यपात कराने की आवश्यकता नहीं है। जब डॉक्टर आपस में यों लड़ते रहे हों, तब अपने विचार को डॉक्टरी मत का सहारा मिलने से ऐसा न समझना चाहिए कि विषय में लीन रहना ही उचित है। अपने और दूसरों के अनुभव जो मैं जानता हूँ, उनके आधार पर मैं बेधड़क कहता हूँ कि आरोग्य की रक्षा के लिये विषय-भोग आवश्यक नहीं है। यह नहीं, वरन् विषय-भोग करने से—वीर्यपात होने से—आरोग्य को बहुत हानि पहुँचती है। अनेक वर्षों की संचित शक्ति—तन और मन दोनों की—एक ही बार के वीर्यपात से इतनी अधिक जाती रहती है कि उसके लौटाने के लिये बहुत समय चाहिए, और उतना समय लगाने पर भी पूर्व की स्थिति तो आ ही नहीं सकती। टूटे शीशे को जोड़कर उससे काम भले ही लें, पर है तो वह टूटा हुआ ही। वीर्य-रक्षा के लिये स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी और पहले बतलाए अनुसार स्वच्छ विचार की पूरी आवश्यकता है।

इस प्रकार नीति का आरोग्य के साथ बहुत निकट का संबंध है। संपूर्ण नीतिमान् ही संपूर्ण आरोग्य पा सकता है। जो जगने के बाद सवेरा समझकर ऊपर के लेखों पर ख़ूब विचार करके तदनुसार व्यवहार करेंगे, वे इसका प्रत्यक्ष अनुभव पा सकेंगे। जिन्होंने थोड़े दिनों में भी ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा, उन्हें अपने शरीर और मन के बढ़े हुए बल का अनुभव हुआ होगा। एक बार जिसके हाथ यह पारस मणि लग गया, वह इसे अपने जीवन की भांति रक्षित रक्खेगा। जरा भी चूकने पर उसे अपनी भद्दी भूल मालूम हो जायगी। मैंने तो ब्रह्मचर्य के अगणित लाभ अनुभव किए हैं। विचारने और जानने के बाद भूलें भी की हैं और उनके कड़वे फल भी चखे हैं। भूल के पहले की मेरे मन की दिव्य और उसके बाद की दमनीय दशा के चित्र आँख के सामने आया ही करते हैं। पर अपनी भूलों से ही मैंने इस पारस मणि का मूल्य समझा है। अब आगे इसका अखंड रूप से पालन कर सकूँगा या नहीं, यह नहीं जानता, पर ईश्वर की सहायता से पालन करने की आशा अवश्य रखता हूँ। उससे मेरे मन और तन को जो लाभ हुए हैं, उन्हें मैं देख सकता हूँ। मैं स्वयं बालकपन में ब्याहा गया, बचपन में ही अंधा बना और बालपन में ही बाप बनकर बहुत वर्षों बाद जागा। जगकर देखता क्या हूँ कि मैं महारात्रि के घोर अंधकार में पड़ा हुआ हूँ। मेरे अनुभवों से और मेरी भूलों से यदि कोई सचेत हो जायगा, या बच जायगा तो यह प्रकरण लिखने के कारण मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। बहुतेरे लोग कहा करते है, और मैं मानता भी हूँ, मुझमें उत्साह बहुत है। मेरा मन तो निर्बल माना ही नहीं जाता। कितने ही लोग तो मुझे हठी तक कहते हैं। मेरे मन और शरीर में रोग भी हैं, किंतु अपने संसर्ग में आए हुए, लोगों में मैं अच्छा स्वस्थ गिना जाता हूँ।

लगभग बीस साल तक विषयासक्त रहने के पश्चात् भी जब ब्रह्मचर्य्य से मैं अपनी यह हालत बना सका हूँ, तब वे बीस वर्ष भी अगर बचा सका होता, तो आज मैं कैसी अच्छी दशा में होता ! अब भी मेरा उत्साह अपार है । और तब तो जनता की सेवा में या अपने स्वार्थ में मैं इतना उत्साह दिखलाता कि मेरी बराबरी करनेवाले कठिनाई से ही मिलते । इतना सारांश तो मेरे त्रुटि-पूर्ण उदाहरण से भी लिया जा सकता है । जिन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य पालन किया है, उनकी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्ति जिन्होंने देखी है, वही समझ सकते हैं । उसका वर्णन नहीं हो सकता ।

इस प्रकरण के पाठक अब समझ गए होंगे कि जहाँ विवाहितों को ब्रह्मचर्य की सलाह दी गई है, विधुर पुरुषों अथवा विधवा स्त्रियों को वैधव्य किंवा ब्रह्मचर्य सिखलाया जाता है, वहाँ पर विवाहित या अविवाहित स्त्री या पुरुष को दूसरी जगह विषय करने का अवसर मिल ही नहीं सकता । पर-स्त्री या वेश्या पर कुदृष्टि डालने के घोर परिणामों का विचार आरोग्य के विषय के साथ नहीं किया जा सकता । यह तो धर्म और गहरे नीति-शास्त्र का विषय है । यहाँ तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पर-स्त्री और वेश्या गमन से आदमी सुजाक आदि नाम न लेने योग्य बीमारियों से सड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं । प्रकृति तो इनपर ऐसी दया करती है कि इन लोगों के आगे पापों का फल तुरत ही देती है । तो भी वे आँखें मूदे ही रहते हैं, और अपने रोगों क इलाज के लिये डॉक्टरों के यहाँ भटकते फिरते हैं । जहाँ पर स्त्री गमन न हो, वहाँ पर सैकड़े पीछे पचास डाक्टर बेकार हो जायँगे । बीमारियाँ मनुष्य-जाति के गले इस प्रकार आ पड़ी हैं कि विचार-शील डाक्टर कहते हैं कि अनेक प्रकार की औषध होते रहने पर भी अगर पर स्त्री गमन का रोग जारी रहा

तो फिर मनुष्य-जाति का नाश निकट ही है। इसके रोगों की दवाएँ भी ऐसी विषाक्त होती हैं कि अगर उनसे एक रोग का नाश है, तो दूसरे रोग घर कर लेते हैं, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक बराबर चलते हैं।

अब विवाहितों को ब्रह्मचर्य्य-पालन का उपाय बताकर इस लंबे प्रकरण को समाप्त करना चाहिए। ब्रह्मचर्य्य के लिये खेल, स्वच्छ जल-वायु और खुराक का ही ख्याल रखने से काम नहीं चलता। उन्हें तो अपनी स्त्री के साथ एकांतवास छोड़ना पड़ेगा। विचार करने से मालूम होता है कि संभोग के सिवा एकांतवास की आवश्यकता ही नहीं होती। रात में स्त्री-पुरुष को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए। सारे दिन दोनों को पवित्र धंधों और विचारों में लगा रहना चाहिए। जिसमें अपने सुविचार को उत्तेजन मिले; ऐसी पुस्तकें और ऐसे महापुरुषों के चरित्र पढ़ने चाहिए। यह विचार बारंबार करना चाहिए कि भोग में तो दुःख है, जब-जब विषय की इच्छा हो आवे, ठंडे पानी से नहा लेना चाहिए। शरीर में जो महा-अग्नि है, वह इससे शांत होकर पुरुष और स्त्री दोनों को लाभकर होगी और अन्य प्रकार से हितकर रूप धरकर उनके सच्चे सुख की वृद्धि करेगी। यद्यपि यह कार्य कठिन है, पर आरोग्य प्राप्त करना हो, तो ये कठिनाइयाँ जीतनी ही पड़ेंगी।

— ———

ब्रह्मचर्य का साधारण रूप

[भादरण में एक अभिनंदन-पत्र का उत्तर देते हुए, लोगों के अनुरोध से, गाँधीजी ने ब्रह्मचर्य पर एक लंबा प्रवचन किया था। उसका सारा भाग यहाँ दिया जाता है।]

आप चाहते हैं कि ब्रह्मचर्य के विषय पर मैं कुछ कहूँ। कई विषय ऐसे हैं कि जिनपर मैं 'नवजीवन' में प्रसंग-वश ही लिखता हूँ और उनपर व्याख्यान तो शायद ही देता हूँ। क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि कहकर इसे नहीं समझाया जा सकता। आप तो ब्रह्मचर्य के साधारण रूप से संबंध में कुछ सुनना चाहते हैं; जिस ब्रह्मचर्य की व्यापक व्याख्या समस्त इन्द्रियों का निग्रह है, उसके संबंध में नहीं। इस साधारण ब्रह्मचर्य को भी शास्त्रों में बड़ा कठिन बतलाया गया है। यह बात ९९ प्रतिशत सच है, इसमें १ प्रतिशत की कमी है। इसका पालन इसलिये कठिन मालूम पड़ता है कि हम दूसरी इन्द्रियों को संयम में नहीं रखते, विशेष रूप से जीभ को। जो अपनी जिह्वा पर अधिकार रखता है, उसके लिये ब्रह्मचर्य सरल हो जाता है। प्राणि-शास्त्र के पंडितों का मत है कि पशु जहाँ तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है मनुष्य वहाँ तक भी नहीं करता। इसका कारण देखने पर मालूम होगा कि पशु अपनी जीभ पर पूरा-पूरा अधिकार रखते हैं—प्रयत्न करके नहीं, वरन स्वभाव से ही। वे घास पर ही अपना निर्वाह करते हैं, और सो भी केवल पेट भरने लायक़ ही खाते हैं, खाने के लिये नहीं जीते। पर हम लोग तो इसके नितांत प्रतिकूल करते हैं। माताएँ अपने बच्चों को तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन कराती हैं। वे अपनी संतान पर प्रेम दिखाने का सबसे उत्तम साधन इसी को समझती हैं। इसी प्रकार हम उन वस्तुओं का स्वाद बढ़ाते नहीं, वरन् घटाते हैं।

स्वाद तो भूख में रहता है। भूख के समय सूखी रोटी भी रुचिकर किंवा स्वादिष्ट प्रतीत होती है और बिना भूख के आदमी को लड्डू भी फीके और स्वादहीन जान पड़ते हैं। पर हम तो न जाने, क्या-क्या खाकर पेट को ठसाठस भरा करते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो पाता।

हमें ईश्वर ने जो आँखें देखने के लिये दी हैं, उन्हें हम मलीन करते हैं, और देखने योग्य वस्तुओं को देखना नहीं सीखते। 'माता गायत्री क्यों न पढ़े, और बालकों को वह गायत्री क्यों न सिखाए?' इसकी छानबीन करने के बदले यदि वह उसके तत्त्व—सूर्योपासना—को समझकर उनसे सूर्योपासना करावे, तो कितना अच्छा हो। सूर्य की उपासना तो सनातनधर्मी और आर्यसमाजी दोनों ही कर सकते हैं, तो यह मैंने स्थूल अर्थ आपके समक्ष उपस्थित किया। इस उपासना का तात्पर्य क्या है? यही न कि अपना सिर ऊँचा रखकर सूर्यनारायण के दर्शन करके, आँख की शुद्धि की जाय। गायत्री के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होंने कहा कि सूर्योदय में जो काव्य, सौंदर्य लीला और नाटक है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकता। ईश्वर जैसा सूत्रधार अन्यत्र नहीं मिल सकता, और आकाश से बढ़कर भव्य रंग-भूमि भी कहीं नहीं मिल सकती। पर आज कौन-सी माता बालक की आँखें धोकर उसे आकाश का दर्शन कराती है? वरन् आजकल तो माता के भावों में तो अनेक प्रपंच रहते हैं। बड़े-बड़े घरों में बच्चों को जो शिक्षा मिलती है, वह उनको बड़ा अफ़सर बनाने के लिये दी जाती है। पर इस बात का कौन विचार करता है? घर में जाने-बेजाने जो शिक्षा बच्चों को स्वतः मिलती है, उसका उसके जीवन पर कितना प्रभाव पड़ता है! माँ-बाप हमारे शरीर को ढकते हैं, सजाते हैं, पर इससे कहीं शोभा बढ़ सकती है! कपड़े बदन को ढकने के

लिये हैं, सर्दी-गर्मी से बचाने के लिये हैं, सजाने के लिये नहीं। यदि बालक का शरीर वज्र-सा दृढ़ बनाना है, तो जाड़े से ठिठुरते हुए लड़के को हमें अँगीठी के पास बैठाने के बदले मैदान में खेलने-कूदने या खेत में काम पर भेज देना चाहिए। उसका शरीर दृढ़ बनाने का बस यही एक उपाय है। जिसने ब्रह्मचर्य्य का पालन किया है, उसका शरीर अवश्य ही वज्र की भांति सुदृढ़ होना चाहिए। पर हम तो बच्चों के शरीर का सत्यानाश कर डालते हैं। उसे घर में रख करके जो कृत्रिम गर्मी देते हैं, उससे शरीर सुकुमार हो जाते हैं। इस प्रकार दुलार करके तो हम उसके शरीर को निर्बल बना डालते हैं।

यह तो हुई कपड़े की बात। फिर घर में अनेक प्रकार की बातें करके हम उनके मन पर बहुत बुरा असर डालते हैं। उसके विवाह की बातें करते हैं। और इसी प्रकार वस्तुएँ और दृश्य भी उसे दिखाते रहते हैं। मर्यादा तोड़ने के अनेक साधनों के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो जाती है। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह से की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच जाता है। यदि हम ब्रह्मचर्य्य के रास्ते से ये सब विघ्न दूर कर दें, तो उसका पालन बहुत सुगम हो जाय।

ऐसी दशा होते हुए भी हम संसार के साथ अपने शारीरिक बल की तुलना करना चाहते हैं। उसके दो उपाय हैं—एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर का बल प्राप्त करने के लिये हर प्रकार के उपायों से काम लेना—हर प्रकार की चीजें खाना, गो-माँस खाना इत्यादि। मेरे लड़कपन में मेरा एक मित्र मुझसे कहा करता था कि मांसाहार हमें अवश्य करना चाहिए, नहीं तो हम अंग्रेजों की तरह हट्टे-कट्टे न हो सकेंगे। जापान को भी जब दूसरे

देश के साथ सामना करने का अवसर आया, तब वहाँ गो-माँस भक्षण को स्थान मिला। सो, यदि आसुरी मत के अनुसार शरीर को तैयार करने की इच्छा हो, तो इन वस्तुओं का सेवन करना होगा।

परंतु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो, तो ब्रह्मचर्य्य ही उपाय है। जब मुझे कोई 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहता है, तब मैं अपने आप पर तरस खाता हूँ। इस मान पत्र में मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया है। मुझे कहना पड़ता है कि जिन्होंने इस अभिनंदन-पत्र को तैयार किया है, उन्हें पता नहीं है कि 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' किसे कहते हैं। जिसके बाल-बच्चे हुए हैं, उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी ज्वर आता है, न कभी उसके सिर-दर्द ही होता है, न कभी उसे खाँसी आती है, न कभी उसे आपेंडिसाइटिज होता है। डाक्टर लोगों का मत है कि नारंगी का बीज आँत में रह जाने से भी आपेंडिसाइटिज होता है। परंतु जो शरीर स्वच्छ और नीरोगी होगा, उसमें यह टिक ही न सकेगा। जब आँतें शिथिल पड़ जाती हैं, तब वे ऐसी चीजों को अपने आप बाहर नहीं निकाल सकतीं। मेरी भी आंतें शिथिल हो गई होंगी। इसी से मैं ऐसी कोई चीज़ हजम नहीं कर सका हूँगा। बच्चा ऐसी अनेक चीजें खा जाता है। माता इसका कहाँ ध्यान रखती है? पर उसकी आँतों में इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसलिये मैं चाहता हूँ कि मुझपर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य के पालन का आरोप करके कोई मिथ्याचारी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का तेज मुझसे अनेक गुणा अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हाँ, यह ठीक है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। मैंने तो आपके सामने अनुभव के कुछ बूँदें उपस्थित की हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताती हैं।

ब्रह्मचर्य-पालन का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्री को स्पर्श न करूँ। पर ब्रह्मचारी बनने का अर्थ यह है कि स्त्री को स्पर्श करने से भी मुझमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, जिस तरह एक कागज़ को स्पर्श करने से नहीं होता। मेरी बहन बीमार हो और उसकी सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य्य के कारण मुझे हिचकना पड़े, तो वह ब्रह्मचर्य्य किस काम का। जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत-शरीर को स्पर्श करके कर सकते हैं उसी का अनुभव जब हम किसी सुंदरी युवती का स्पर्श करके कर सकें, तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हों कि बालक वैसा ब्रह्मचर्य प्राप्त करें, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते, एक ब्रह्मचारी ही बना सकता है, फिर वह चाहे मेरी तरह अधूरा ही क्यों न हो।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक संन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम संन्यासाश्रम से भी बढ़कर है, पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगड़ा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगड़ा है और संन्यास का तो नाम ही नहीं रह गया है। हमारी कैसी असह्य अवस्था हो गई है।

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है—उसका अनुकरण करके तो आप पाँच सौ वर्षों के बाद भी पठानों का सामना न कर सकेंगे; पर दैवी मार्ग का अनुकरण यदि आज हो, तो आज ही पठानों का मुक़ाबला हो सकता है; क्योंकि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन तो एक क्षण में हो सकता है। और शारीरिक परिवर्तन करते हुए युग बीत जाते हैं, पर इस दैवी मार्ग का अनुकरण हमसे तभी होगा, जब हममें पूर्वजन्म का पुण्य होगा, और माता-पिता हमारे लिये उसकी उचित सामग्री पैदा करेंगे।

ब्रह्मचर्य्य के प्रयोग

अब ब्रह्मचर्य के संबंध में विचार करने का समय आया है। एक-पत्नीव्रत ने तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान कर लिया था। पत्नी के प्रति मेरी वफ़ादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग था। परन्तु स्वपत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य का पालन करने की आवश्यकता मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही स्पष्ट रूप से दिखाई दी। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में पैदा हुआ, यह इस समय ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता। पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रामचन्द्र भाई का प्रभाव प्रधान रूप से काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज़ ग्लैडस्टन के प्रेम की स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस आफ़ कामन्स की बैठक में भी मिसेज़ ग्लेडस्टन अपने पति को चाय बनाकर पिलाती थीं। यह बात उस नियमनिष्ठ दम्पति के जीवन का एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कवि जी को पढ़ सुनाया और उसके सिलसिले में दम्पति-प्रेम की स्तुति की। रामचन्द्र भाई बोले—इसमें आपको कौनसी बात महत्व की मालूम होती है—मिसेज़ ग्लैडस्टन का पत्नीपन या सेवाभाव? यदि वे ग्लेडस्टन की बहन होतीं तो? अथवा उनकी वफ़ादार नौकर होतीं और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलातीं तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियों के उदाहरण आज हमें न मिलेंगे? और नारी जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जाति में देखा होता तो आपको सानन्दाश्चर्य होता? इस बात पर विचार कीजिएगा।

रामचन्द भाई स्वयं विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है; परन्तु इन वचनों

ने मुझे लोह-चुम्बक की तरह जकड़ लिया। पुरुष नौकर की ऐसी स्वामिभक्ति की क़ीमत पत्नी की स्वामिनिष्ठा की कीमत से हज़ारगुना बढ़कर है। पति-पत्नी में एकता या प्रेम का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पड़ता है। दिन-दिन कविजी के वचन का बल मेरी नज़रों में बढ़ने लगा।

अब मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए। पत्नी को विषयभोग का वाहन बनाना पत्नी के प्रति वफ़ादारी कैसे हो सकती है? जब तक मैं विषय-वासना के आधीन रहूँगा तब तक वफ़ादारी की क़ीमत प्राकृतिक मानी जायगी। मुझे यहां यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध में कभी पत्नी की तरफ़ से मुझ पर ज़्यादती नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं जिस दिन से चाहूँ, ब्रहमचर्य का पालन मेरे लिये सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होने के बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता; पर गिरता। प्रयत्न में मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ सन्तानोपत्ति को रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। सन्ततिनिग्रह के बाह्य उपकरणों के विषय में विलायत में मैंने थोड़ा-बहुत पढ़ लिया था। डा० एलिन्सन के इन उपायों का उल्लेख मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। उसका कुछ क्षणिक असर मुझ पर भी हुआ था। परन्तु मि० हिल्स के द्वारा किये गये उनके विरोध तथा संयम के समर्थन का बहुत असर मेरे दिल पर हुआ और अनुभव के द्वारा वही चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजापत्ति की अनावश्यकता जँचते ही संयम-पालन के लिये उद्योग आरंभ हुआ।

संयम-पालन में कठिनाइयाँ बेहद थीं। चारपाइयाँ दूर रखते। रात को थककर सोने की कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नों का

विशेष का परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया; पर जब मैं भूत-काल की ओर आँख उठाकर देखता हूँ तो जान पड़ता है कि इन्हीं सारे प्रयत्नों ने मुझे अन्तिम बल प्रदान किया।

अंतिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रह का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उसका स्वप्न तक में मुझे ख्याल न था। बोअर युद्ध के बाद नेटाल में 'जूलू' बलवा हुआ। उस समय मैं जोहान्सबर्ग में वकालत करता था। पर मन ने कहा कि इस समय बलवे में मुझे अपनी सेवा नेटाल सरकार को अर्पित करनी चाहिए। मैंने अर्पित की भी। वह स्वीकृत भी हुई। परन्तु इस सेवा के फलस्वरूप मेरे मन में तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार अपने साथियों से मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जँचा कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तान-रक्षण लोकसेवा के विरोधक हैं। इस बलवे के काम में शरीक होने के लिये मुझे अपना जोहान्स-बर्गवाला घर तितर-बितर करना पड़ा। टीपटाप के साथ सजाये घर को और जुटी हुई विविध सामग्री को अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चों को फ़ीनिक्स में रक्खा। और मैं घायलों की शुश्रूषा करनेवालों की टुकड़ी बनाकर चल पड़ा। इन कठिनाइयों का सामना करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवा में ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एवं धनैषणा को भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

बलवे में मुझे डेढ़ महीने से ज्यदा न ठहरना पड़ा; परन्तु यह छः सप्ताह मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान समय था। व्रत का महत्व मैं इस समय सबसे अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बंधन नहीं, स्वतंत्रता का द्वार है। आज तक मेरे प्रयत्नों में आवश्यक

सफलता नहीं मिलती थीं; क्योंकि मुझमें निश्चय का अभाव था। मुझे ईश्वर-कृपा का विश्वास न था। इसलिये मेरा मन अनेक तरंगों में और अनेक विकारों के अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बंधन से पृथक रहकर मनुष्य मोह में पड़ता है। व्रत से अपने को बाँधना मानो व्यभिचार से छूटकर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है। 'मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है, व्रत के द्वारा मैं बँधना नहीं चाहता'—यह वचन निर्बलता-सूचक है और उसमें छुपे-छुपे भोग की इच्छा रहती है। जो चीज़ त्याज्य है उसे सर्वथा छोड़ देने में कौन-सी हानि हो सकती है? जो साँप मुझे डँसनेवाला है उसको मैं निश्चयपूर्वक हटा देता हूँ। केवल हटाने का प्रयत्न ही नहीं करता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि केवल प्रयत्न का परिणाम होगा मृत्यु। प्रयत्न में सांप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव है। इसी प्रकार जिस चीज़ के त्याग का हम प्रयत्नमात्र करते हैं उसके त्याग की आवश्यकता हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं दी है। यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बाद को बदल जांय तो?' ऐसी शंका से बहुत बार व्रत लेते हुए डरते हैं। इस विचार में स्पष्ट दर्शन का अभाव है। इसी लिये निष्कुलानन्द ने कहा है—

त्याग न टिके रे बैराग विना।

जहां किसी चीज़ से पूर्ण वैराग्य हो गया है, वहां उसके लिये व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

———

वीर्य-रक्षा

महाशय ब्यूरो की पुस्तक की आलोचना पर मेरे पास जो अनेक पत्र आये हैं, उनके कारण इस परम महत्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकट रूप से चर्चा करना आवश्य हो गया है। मलाबारी भाई लिखते हैं :—

महाशय ब्यूरो की पुस्तक की समालोचना में आपने लिखा है कि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि ब्रह्मचर्य-पालन वा दीर्घकाल के संयम से किसी को कुछ हानि पहुँची हो। पर मुझे अपने लिये तो तीन सप्ताह से अधिक दिनों तक संयम रखना हानिकारक ही प्रतीत होता है। इतने समय के बाद प्रायः मेरे शरीर में भारीपन का तथा चित्त और अंग में बेचैनी का अनुभव होने लगता है, जिससे मन भी चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। आराम तभी मिलता है, जब संयोग द्वारा या प्रकृति की कृपा होने से, यों ही, कुछ वीर्यपात हो लेता है। दूसरे दिन प्रातः शरीर या मन की दुर्बलता का अनुभव करने के बदले मैं शांत और हलका हो जाता हूँ और अपने काम में अधिक उत्साह से लग जाता हूँ।

मेरे एक मित्र को तो ऐसा संयम हानिकारक ही सिद्ध हुआ है। उनकी अवस्था बत्तीस वर्ष के लगभग होगी। वह बड़े ही कट्टर शाकाहारी और धार्मिक पुरुष हैं। उनमें शरीर या मन का एक भी दुर्व्यसन नहीं है। किंतु तो भी दो साल पहले तक उन्हें स्वप्न दोष में बहुत वीर्यपात हो जाया करता था, और उसके अनंतर वह बहुत निर्बल और निरुत्साह हो जाया करते थे। उसी समय उन्होंने विवाह किया। पेड़ू के दर्द की कोई बीमारी भी उन्हें उसी समय हो गई। किसी आयुर्वेदिक वैद्यराज की सलाह से उन्होंने विवाह कर लिया, और अब वह बिलकुल अच्छे हैं।

ब्रह्मचर्य्य की श्रेष्ठता का, जिसपर हमारे सभी शास्त्र एकमत हैं, मैं बुद्धि से तो क़ायल हूँ; किंतु जिन अनुभवों का वर्णन मैंने ऊपर किया है; उनसे तो स्पष्ट हो जाता है कि शुक्रग्रंथियों से जो वीर्य निकलता है; उसे शरीर में ही पचा लेने की सामर्थ्य हममें नहीं है। इसलिये वह विष बन जाता है। अतएव मैं आपसे सविनय अनुरोध करता हूँ कि मेरे समान लोगों के लाभ के लिये, जिन्हें ब्रह्मचर्य और आत्म-संयम के महत्त्व के विषय में कुछ संदेह नहीं है, हठयोग वा प्राणायाम के कुछ साधन बतलाइए, जिनके सहारे हम अपने शरीर में इस प्राण-शक्ति को पचा सकें।

इन भाइयों के अनुभव असाधारण नहीं हैं, वरन् बहुतों के ऐसे ही अनुभवों के नमूने-मात्र हैं। ऐसे उदाहरण मैं जानता हूँ, जब कि अधूरे प्रमाणों को ही लेकर साधारण नियम निकालने में उतावली की गई है। उस प्राण-शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रखने और फिर पचा लेने की योग्यता बहुत अभ्यास से आती है। और ऐसा होना भी चाहिए; क्योंकि किसी दूसरी साधना से शरीर और मन को इतनी शक्ति नहीं प्राप्त होती। दवाएँ और यंत्र शरीर को अच्छी, काम-चलाऊ दशा में रख सकते हैं, किंतु उनसे चित्त इतना निर्बल हो जाता है कि वह मनोविकारों का दमन नहीं कर सकता। और ये मनोविकार जानी दुश्मन के समान प्रत्येक को घेरे रहते हैं।

हम काम तो वैसे करते हैं, जिनसे लाभ तो दूर, उलटे हानि ही होती है; परंतु साधारण संयम से ही बहुत लाभ की आशा बारंबार किया करते हैं। हमारा साधारण जीवन-क्रम विकारों को तृप्त करने के लिये ही बनाया जाता है, हमारा भोजन, साहित्य मनोरंजन, काम का समय, ये सभी कुछ हमारे पाशविक विकारों को ही उत्तेजित और संतुष्ट करने के लिये निश्चित किये जाते हैं।

हममें-से अधिकांश की इच्छा विवाह करके, लड़के पैदा करने की भले ही थोड़े संयम रूप में हो; किंतु साधारणतः सुख भोगने की ही होती है। और अंत तक न्यूनाधिक ऐसा होता ही रहेगा।

किंतु साधारण नियम के अपवाद जैसे सदा से होते आये हैं, वैसे अब भी होते हैं। ऐसे भी मनुष्य हुए हैं, जिन्होंने मानव जाति की सेवा में, या यों कहिए कि भगवान् की ही सेवा में, जीवन लगा देना चाहा है। वे विश्व-कुटुम्ब की और निजी कुटुम्ब की सेवा में अपना समय अलग-अलग बाँटना नहीं चाहते। अवश्य ही ऐसे मनुष्यों के लिये उस प्रकार संभव नहीं है, जिस जीवन से विशेष रूप से किसी व्यक्ति-विशेष की ही उन्नति संभव हो। जो भगवान् की सेवा के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत लेंगे, उन पुरुषों को जीवन की ढिलाइयों को छोड़ देना पड़ेगा और इस कठोर संयम में ही सुख का अनुभव करना होगा। वे संसार में भले ही रहें, पर वे 'सांसारिक' नहीं हो सकते। उनका भोजन, धंधा, काम करने का समय, मनोरंजन, साहित्य, जीवन का उद्देश्य आदि सर्वसाधारण से अवश्य ही भिन्न होंगे।

अब इसपर विचार करना चाहिए कि पत्र-लेखक और उनके मित्र ने संपूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन को क्या अपना ध्येय बनाया था और अपने जीवन को क्या उसी ढांचे में ढाला भी था? यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया था, तो फिर यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं होगी कि वीर्यपात से एक आदमी को आराम और दूसरे को निर्बलता क्यों होती थी। उस दूसरे आदमी के लिये तो विवाह ही दवा थी। अधिकांश मनुष्यों को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी जब मन में विवाह का ही विचार भरा हो, तो उस स्थिति में उन मनुष्यों के लिये विवाह ही प्रकृत और इष्ट है। जो विचार दबाया न जाकर अमूर्त ही छोड़ दिया जाता है, उसकी शक्ति, वैसे ही

विचार की अपेक्षा, जिसको हम मूर्त कर लेते हैं, यानी जिसको कार्य का रूप दे लेते हैं, कहीं अधिक होती है। जब उस क्रिया का हम यथोचित संयम कर लेते हैं, तो उसका असर विचार पर भी पड़ता है और विचार का संयम भी होता है। इस प्रकार जिस विचार को आचार का रूप दे दिया जाता है, वह अपने अधिकार में अपना बंदी-सा बन जाता है। इस दृष्टि से विवाह भी एक प्रकार का संयम ही मालूम होता है।

मेरे लिये, एक समाचार-पत्र के लेख में, उन लोगों के लाभ के लिये, जो नियमित संयत जीवन बिताना चाहते हैं, क्रमानुसार सलाह देनी ठीक न होगी। उन्हें तो मैं कई वर्ष पहले इसी विषय पर लिखे हुए अपने ग्रंथ 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' को पढ़ने की सलाह दूँगा। नए अनुभवों के अनुसार उसे कहीं-कहीं दुहराने की आवश्यकता है सही, किंतु उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं है, जिसे मैं लौटाना चाहूँ। हाँ, साधारण नियम यहाँ भले ही दिए जा सकते हैं:—

(१) खाने में हमेशा संयम से काम लेना। थोड़ी मीठी भूख रहते ही चौके से हमेशा उठ जाना।

(२) बहुत गर्म मसालों और घी-तेल से बने हुए शाकाहार से अवश्य बचना चाहिए। जब दूध पूरा मिलता हो, घी-तेल आदि चिकने पदार्थ अलग से खाना अनावश्यक है। जब प्राण-शक्ति का थोड़ा ही नाश हो तो अल्प भोजन भी काफी होता है।

(३) सदा मन और शरीर को शुद्ध काम में लगाए रखना।

(४) जल्दी सो जाना और सवेरे उठ बैठना परमावश्यक है।

(५) सबसे बड़ी बात यह है कि संयम जीवन बिताने में ही आजीवन ईश्वर-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा मिली रहती है। जब

से इस परमतत्व का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है, तब से ईश्वर के ऊपर यह भरोसा बराबर बढ़ता ही जाता है कि वह स्वयं ही अपने इस यंत्र का (मनुष्य के शरीर को) विशुद्ध रूप से संचालित रखेगा। गीता में कहा है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥

यह अक्षरशः सत्य है।

पत्र-लेखक आसन और प्राणायाम की बात करते हैं। मेरा विश्वास है कि आत्म-संयम में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु मुझे इसका खेद है कि इस विषय में मेरे निजी अनुभव कुछ ऐसे नहीं हैं, जो लिखने योग्य हों। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस विषय पर इस काल के अनुभव के आधार पर लिखा हुआ साहित्य है ही नहीं। परंतु यह विषय अध्ययन करने योग्य है। लेकिन मैं अपने अनभिज्ञ पाठकों को इसके प्रयोग करने या जो कोई हठयोगी मिल जाय, उसी को गुरु बना लेने से सावधान कर देना चाहता हूँ। उन्हें निश्चय जान लेना चाहिए कि संयत और धार्मिक जीवन में ही अभीष्ट संयम के पालन की यथेष्ट शक्ति है।

———

भोजन और उपवास

जिनके अन्दर विषय-वासना रहती है उनकी जीभ बहुत स्वाद-लोलुप रहती है। यही स्थिति मेरी भी थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय पर कब्ज़ा करते हुए मुझे बहुत विडम्बनाएँ सहनी पड़ी हैं और अब भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इन दोनों पर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने को अतिभोजी माना है। मित्रों ने जिसे मेरा संयम माना है उसे मैंने कभी वैसा नहीं माना। जितना अंकुश मैं रख सका हूँ, उतना यदि न रख सका होता तो मैं पशु से भी गया बीता होकर अब तक कभी का नाश को प्राप्त हो गया होता। मैं अपनी त्रुटियों को ठीक-ठीक जानता हूँ और कह सकता हूँ कि उन्हें दूर करने के लिये मैंने भारी प्रयत्न किये हैं। और इसी से मैं इतने साल तक इस शरीर को टिका सका हूँ और उससे कुछ काम ले सका हूँ।

इस बात का भान होने के कारण, और इस प्रकार की संगति अनायास मिल जाने के कारण, मैंने एकादशी के दिन फलाहार अथवा उपवास शुरू किये, जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियों को भी उपवास करने लगा। परन्तु संयम की दृष्टि से फलाहार और अन्नाहार में मुझे बहुत भेद न दिखाई दिया। अनाज के नाम से हम जिन वस्तुओं को जानते हैं और उनमें जो स्वाद मिलता है वही फलाहार में भी मिलता है और आदत पड़ने के बाद तो मैंने देखा कि उनमें अधिक ही स्वाद मिलता है। इस कारण इन तिथियों के दिन सूखा उपवास अथवा एकासने को अधिक महत्व देता गया। फिर प्रायश्चित्त आदि का भी कोई निमित्त मिल आता तो उस दिन भी एकासना कर डालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि शरीर के अधिक स्वच्छ हो जाने से स्वादों की वृद्धि

हुई। भूख बढ़ी और मैंने देखा कि उपवासादि जहाँ एक ओर संयम के साधन हैं, वहीं दूसरी ओर वे भोग के साधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान हो जाने पर इसके समर्थन में उसी प्रकार के मेरे तथा दूसरों के कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि अपना शरीर अधिक अच्छा और दृढ़ सुडौल बनाना था, तथापि अब तो मुख्य हेतु था संयम को साधना और स्वादों को जीतना। इसलिये भोजन की चीजों में और उनकी मात्रा में परिवर्तन करने लगा; परन्तु स्वाद तो हाथ धोकर पीछे पड़े रहते। एक वस्तु को छोड़कर जब उसकी जगह दूसरी वस्तु लेता तो उसमें भी नये और अधिक स्वाद उत्पन्न होने लगते। इन प्रयोगों में मेरे साथ और साथी भी थे। हरमान केलनबेक इनमें मुख्य थे। इनका परिचय दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में दे चुका हूँ। इसलिए फिर यहाँ देने का इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवास में, एकासने में, एवं दूसरे परिवर्तनों में, मेरा साथ दिया था। जब हमारे आन्दोलन का रंग खूब जमा था तब तो मैं उन्हीं के घर में रहता था। हम दोनों अपने इन परिवर्तनों के विषय में चर्चा करते और नये परिवर्तनों में पुराने स्वादों से भी अधिक स्वाद लेते। उस समय तो यह संवाद बड़े मीठे लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उसमें कोई बात अनुचित होती थी। पर अनुभव ने सिखाया कि ऐसे स्वादों में गोते लगाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को स्वाद के लिये नहीं, बल्कि शरीर को कायम रखने के लिये ही भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय जब केवल शरीर के; और शरीर के द्वारा आत्मा के, दर्शन के ही लिये काम करती है तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं! और तभी कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक रूप में अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करने के लिए जितने प्रयोग किये जाँय

उतने ही कम हैं और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरों की आहुति देनी पड़े तो भी हमें उनकी परवा न करनी चाहिए। अभी आज कल उलटी गंगा बह रही है। नाशवान शरीर को सुशोभित करने, उसकी आयु को बढ़ाने के लिए हम अनेक प्राणियों का बलिदान करते हैं। पर यह नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनों का हनन होता है। एक रोग को मिटाते हुए, इन्द्रियों के भोगों को भोगने का उद्योग करते हुए, हम नये-नये रोग पैदा करते हैं, और अन्त में भोग भोगने की शक्ति भी खो बैठते हैं। एवं सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस क्रिया को अपनी आँखों के सामने होते देखते हुँए भी हम उसे देखना नहीं चाहते।

मन का संयम

जो लाग ब्रह्मचर्य पालन करने की इच्छा करते हैं उनके लिये यहाँ एक चेतावनी देने की आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य के साथ भोजन और उपवास का निकट सम्बन्ध बतलाया है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन। मलिन मन उपवास से शुद्ध नहीं होता। भोजन का उसपर असर नहीं होता। मन की मलिनता विचार से, ईश्वर के ध्यान से और अन्त में ईश्वर प्रसाद से ही मिटती है। परन्तु मन का शरीर के साथ निकट संबंध है और विकारयुक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश में रहता है। सविकार मन अनेक प्रकार के स्वाद और भोगों को खोजता है और फिर उस भोजन और भोगों का असर मन पर होता है। इस अंश तक भोजन पर अंकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

विकारयुक्त मन शरीर और इन्द्रियों पर अपना अधिकार करने के बदले शरीर और इन्द्रियों के अधीन चलता है। इस कारण भी शरीर के लिए शुद्ध और कम-से-कम विकारोत्पादक—भोजन की मर्यादा की और प्रसंगोपात्त निराहार की, उपवास की, आवश्यकता रहती है। इसलिये जो यह कहते हैं कि एक संयमी के लिये भोजन सम्बन्धी मर्यादा की या उपवास की आवश्यकता नहीं, वे उतने ही भ्रम में पड़े हुए हैं जितना कि भोजन और निराहार को सब कुछ समझनेवाले पड़े हुए हैं। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन संयम की ओर जा रहा है उसके लिए भोजन की मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं। उसकी मदद के बिना मन की निर्विकारता असम्भव मालूम होती है।

———

चाहिए। इसलिए आपका अन्तिम भोजन छै बजे शाम के बाद में न होना चाहिए।

६—याद रखिये कि प्राणिमात्र की सेवा करने—और इस प्रकार ईश्वर की महत्ता और प्रेम प्रदर्शित करने के लिये मनुष्य परमात्मा का प्रतिनिधि है। सेवा-कार्य आपका एक मात्र सुख हो। फिर आपको जीवन में अन्य सुखों की आवश्यकता न रह जायगी।

ब्रह्मचर्य्य के साधन

ब्रह्मचर्य्य और उसकी प्राप्ति के संबंध में मेरे पास अनेक पत्र आ रहे हैं। मैंने पिछले अवसरों पर जो बातें कही हैं, उन्हीं को दूसरे शब्दों में देना चाहता हूँ। ब्रह्मचर्य्य केवल कृत्रिम संयम नहीं है, बल्कि उसका अर्थ सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण और मन, वचन तथा कर्म से विषयों की लोलुपता से मुक्त रहना है। इस प्रकार यह आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म की प्राप्ति का राज-पथ है। आदर्श ब्रह्मचारी को ऐंद्रिक वासना अथवा संतानोत्पत्ति की इच्छा से युद्ध नहीं करना पड़ता। ये उसे कभी कष्ट नहीं दे सकते। संपूर्ण संसार उसके लिये एक विशाल परिवार होगा। और वह अपनी संपूर्ण आकांक्षाओं को मानव जाति के कष्टों को दूर करने में केंद्रीभूत कर देगा। संतानोत्पत्ति की इच्छा उसके लिये घृणित वस्तु होगी। जिस व्यक्ति ने मानव जाति के कष्टों को उसकी समस्त व्यापकता में समझ लिया है, वह वासनाओं से कभी विचलित न होगा। वह स्वाभाविक रूप से अपने में शक्ति के स्रोत का अनुभव करेगा, और उसे सदा अदूषित रूप में रखने का प्रयत्न करेगा। उसकी विनम्र शक्ति से संसार में उसका गौरव होगा और वह सम्राट् से भी अधिक अपना प्रभाव उत्पन्न करेगा।

परंतु मुझसे कहा जाता है कि यह असंभव आदर्श है और मैं पुरुष तथा स्त्री के मध्य स्वाभाविक आकर्षण का कुछ मूल्य नहीं समझता। मैं इस बात में विश्वास करना अस्वीकार करता हूँ कि उपर्युक्त ऐंद्रिक दांपत्य संबंध स्वाभाविक कहा जा सकता है। उस दशा में शीघ्र ही हम लोगों पर विपत्ति की बाढ़ आ जायगी। मनुष्य और स्त्री के बीच स्वाभाविक संबंध भाई और बहन, माता और पुत्र अथवा पिता और पुत्री के मध्य आकर्षण है। यह वह

स्वाभाविक आकर्षण है, जिसपर संसार ठहरा हुआ है। यदि मैं संपूर्ण स्त्री-समाज को बहन, पुत्री अथवा माता तुल्य न समझता तो मेरा काम करना तो दूर रहा, जीवित रह सकना असंभव हो जाता। यदि मैं उनकी ओर वासना-पूर्ण नेत्रों से देखता, तो वह विनाश का बिल्कुल निश्चित मार्ग होता।

संतानोत्पादन स्वाभाविक घटना अवश्य है; परंतु कुछ निश्चित सीमा तक। उन सीमाओं का उल्लंघन करने से स्त्री-समाज संकटापन्न हो जाता है, जाति नपुंसक हो जाती है, रोग उत्पन्न हो जाते हैं, अनाचार की वृद्धि होती है, और संसार पाप की ओर अग्रसर होता है। ऐंद्रिक वासनाओं में फँसा हुआ मनुष्य बिना लंगर के जहाज़ की तरह से है। यदि ऐसा कोई व्यक्ति समाज का नेता हो और वह अपने लेखों की भरमार कर दे, जिनसे लोग उसके प्रवाह में प्रवाहित हो जाय तो समाज की क्या दशा होगी! और फिर भी आज हम वही बातें घटित होते देख रहे हैं! मान लीजिए, किसी प्रकाश के चारों ओर चक्कर लगाता हुआ, कोई कीट अपने क्षणिक आनंद की घड़ियाँ गिन रहा हो और हम लोग इसको एक दृष्टांत मानकर उसका अनुसरण करनेवाले हों तो हमारी क्या अवस्था होगी! नहीं, मैं अपनी संपूर्ण शक्तियों से अवश्य ही घोषित करूँगा कि स्त्री और पुरुष के मध्य इन्द्रिय विषयक आकर्षण अस्वाभाविक है। विवाह स्त्री-पुरुषों के हृदयों को कुत्सित वासनाओं से शुद्ध कर देने और उन्हें ईश्वर के अधिक निकट पहुँचाने का साधन है। स्त्री और पुरुष के मध्य वासना-हीन प्रेम असंभव नहीं है। मनुष्य पशु नहीं है। वह अनेक पाशविक योनि धारण करने के पश्चात् इस उच्चयोनि को प्राप्त हुआ है। वह खड़े होने के लिये उत्पन्न हुआ है, न कि चारों पैर से चलने या रेंगने के लिए। मनुष्यता से पाशविकता इतनी दूर है, जितनी आत्मा से पार्थिव वस्तु।

अंत में इसकी प्राप्ति के साधनों को संक्षेप में लिखूँगा।

पहली बात इसकी आवश्यकता का अनुभव करना है।

दूसरी बात धीरे-धीरे इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना है। ब्रह्मचारी को अपनी रसना पर यियंत्रण रखना अत्यंत आवश्यक है। उसे जीवित रहने के लिये भोजन करना चाहिए, न कि आनंद के उपभोग के लिये। उसे केवल पवित्र वस्तु के सामने अपने नेत्र बंद कर लेने चाहिए। इसी कारण नेत्र को पृथ्वी की ओर झुकाकर चलना विनम्र सदाचार का लक्षण है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर आँखें नचाना नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मचारी को अश्लील या अपवित्र बातें न सुननी चाहिए। साथ ही तीव्र उत्तेजक वस्तुएँ न सूँघनी चाहिए। पवित्र मिट्टी की सुगंध कृत्रिम सुगंधित पदार्थों और इत्रों की सुगंधि से अधिक मधुर होती है। ब्रह्मचर्य के इच्छुक सभी व्यक्तियों को जागते समय अपने हाथ-पैर सदा स्वास्थ्यकर कार्यों में लगाए रहना चाहिए। उसे कभी-कभी उपवास भी करना चाहिए।

तीसरी बात पवित्र विचारनेवाले साथी और पवित्र मित्र होना है।

अंतिम किंतु अत्यंत आवश्यक प्रार्थना यह है कि उसे प्रतिदिन नियम-पूर्वक हृदय से रामायण का पाठ करना चाहिए और ईश्वर के आशीर्वाद के लिये प्रार्थना करना चाहिए।

इन सब बातों में-से कोई भी बात प्रत्येक साधारण स्त्री या पुरुष के लिये कठिन नहीं है। वे स्वयं सादगी की मूर्ति हैं। किंतु उनकी सादगी ही संभ्रामक है। जहाँ कहीं दृढ़ इच्छा होती है, वहाँ सुगम मार्ग मिल जाता है। मनुष्य इसके लिये दृढ़ इच्छा नहीं रखते, इसलिये व्यर्थ में कटते रहते हैं। संसार आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य के पालन पर ही रुका हुआ है। तात्पर्य यह कि यह आवश्यक और कार्यान्वित होने योग्य है।

ब्रह्मचर्य्य के अनुभव

[नेटाल में एक बार ज़ुलू लोगों ने बलवा खड़ा कर दिया था। उस समय महात्माजी ने घायलों की सेवा करने का कार्य स्वीकार किया था। महात्माजी के अनुभव, ब्रह्मचर्य्य के विषय में यहीं पक्के हुए थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, वही यहाँ दिया जाता है।]

ब्रह्मचर्य्य के विषय में मेरे विचार यहीं परिपक्व हुए। अपने साथियों से भी मैंने उसकी चर्चा की। हाँ, यह बात अभी मुझे स्पष्ट नहीं दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शन के लिये ब्रह्मचर्य्य अनिवार्य है। परंतु यह बात मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवा के लिये उसकी बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकार की सेवाएँ मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और यदि मैं भोग-विलास में, प्रजोत्पत्ति और संतान-पालन में लगा रहा तो पूरी तरह सेवा मैं न कर सकूँगा। मैं दो घोड़े पर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी इस समय गर्भवती होती तो मैं निश्चिंत होकर आज इस सेवा कार्य में नहीं कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाय तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्य के उस प्रयत्न की विरोधक हो जाय, जो उसे समाज के अभ्युदय के लिये करना चाहिए। पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्य्य का पालन हो सके तो कुटुम्ब-सेवा, समाज-सेवा की विरोधक नहीं हो सकती। मैं इन विचारों के भँवर में पड़ गया और ब्रह्मचर्य्य का व्रत ले लेने के लिये कुछ अधीर हो उठा। इन विचारों से मुझे एक प्रकार का आनंद हुआ और मेरा उत्साह बढ़ गया। इस समय कल्पना ने सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया।

फिनिक्स में पहुँचकर मैंने ब्रह्मचर्य्य विषयक अपने विचार

बड़ी तत्परता से अपने साथियों के सामने रक्खे, सबको वे पसंद आए। सबने ब्रह्मचर्य की आवश्यकता समझी। परंतु सबको उसका पालन बड़ा कठिन मालूम हुआ। कितनों ने प्रयत्न करने का साहस किया। मैं मानता हूँ कि कुछ तो उनमें अवश्य सफल हुए हैं। मैंने उसी समय व्रत ले लिया कि आज से जीवन भर ब्रह्मचर्य्य का पालन करूँगा। इस व्रत का महत्त्व और इसकी कठिनता मैं उस समय पूरी तरह न समझ सका था। कठिनाइयों का अनुभव तो मैं आज तक करता हूँ। साथ ही उस व्रत का महत्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य्य जीवन-विहीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है। पशु स्वभावतः निरंकुश है। परंतु मनुष्यत्व इसी बात में है कि वह स्वेच्छा से अपने को अंकुश में रक्खे। ब्रह्मचर्य की जो स्तुति धर्म-ग्रन्थों में की गई है, उसमें पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी। परंतु अब दिन-दिन यह अधिकाधिक स्पष्ट होती जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

वह ब्रह्मचर्य्य जिसके ऐसे महान फल प्रकट होते हैं, कोई हँसी-खेल नहीं है, वह केवल शारीरिक वस्तु नहीं है। शारीरिक अंकुश से तो ब्रह्मचर्य्य का श्रीगणेश होता है। परंतु शुद्ध ब्रह्मचर्य में तो विचार तक की मलिनता न होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्न में भी बुरे विचार नहीं करता। जब तक बुरे सपने आया करते हैं, स्वप्न में भी विकार प्रबल होता रहता है, तब तक यह मानना चाहिए कि अभी ब्रह्मचर्य्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे तो कायिक ब्रह्मचर्य्य के पालन में भी महाकष्ट सहना पड़ा। इस समय तो यह कह सकता हूँ कि मैं अपने ब्रह्मचर्य्य के विषय में निर्भय हो गया हूँ। परंतु अपने विचारों पर अभी पूर्ण

विजय नहीं प्राप्त कर सका हूँ। मैं नहीं समझता कि मेरे प्रयत्न में कहीं कसर हो रही है। परंतु मैं अब तक नहीं जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, कहाँ से और किस तरह हमपर चढ़ाई कर देते हैं। हाँ, इस बात में मुझे कुछ भी संदेह नहीं है कि विचारों को भी रोक लेने की कुञ्जी मनुष्य के पास है। पर अभी तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि वह चाबी प्रत्येक को अपने लिये खोजनी पड़ती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड़ गए हैं, वे हमारे लिये मार्गदर्शक हैं। उन्हें हम पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता मेरी समझ में केवल प्रभु-प्रसादी है और इसीलिये भक्त लोग अपनी तपश्चर्या से पुनीत करके राम-नामादि मंत्र हमारे लिये छोड़ गए हैं।

मुझे विश्वास होता है कि अपने का पूर्ण रूप से ईश्वरार्पण किए बिना विचारों पर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकती, समस्त धर्म-पुस्तकों में मैंने ऐसे बचन पढ़े हैं। अपने ब्रह्मचर्य्य के सूक्ष्मतम पालन में मैं उसकी सत्यता का अनुभव भी कर रहा हूँ। परंतु मेरी इस छटपटाहट का थोड़ा-बहुत इतिहास आगे आने ही वाला है। इसलिये इस प्रकरण के अंत में तो इतना कह ही देता हूँ कि अपने उत्साह के आवेग में पहले-पहल तो मुझे इस व्रत का पालन सहल मालूम हुआ। परंतु एक बात तो मैंने व्रत लेते ही शुरू कर दी थी। पत्नी के साथ एक-शय्या अथवा एकांत-सेवन का त्याग कर दिया था। इस तरह इच्छा या अनिच्छा से जिस ब्रह्मचर्य्य का पालन मैं १९०० से करता आया हूँ, उसका प्रारंभ व्रत के रूप में १९०६ के मध्य में हुआ।

× × × ×

अब मुझे एक फ़िक्र तो यह लगी कि मन, कर्म, बचन से ब्रह्मचर्य्य का पालन किस प्रकार हो। इस फ़िक्र ने मुझे अपने

भोजन में अधिक संयम और अधिक परिवर्तन की प्रेरणा की। फिर जो परिवर्तन मैं पहले मुख्यतः आरोग्य की दृष्टि से करता था, वे अब धार्मिक दृष्टि से होने लगे। इसमें उपवास और अल्पाहार ने अधिक स्थान लिया। जिनके अंदर विषय-वासना रहती है, उनकी जिव्हा जल स्वाद-लोलुप रहती है। यही स्थिति मेरी भी थी। जननेंद्रिय और स्वादेंद्रिय पर क़ब्ज़ा करते हुए मुझे बहुत विडंबनाएँ सहनी पड़ी हैं और अब भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इन दोनों पर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने को अत्याहारी माना है। मित्रों ने जिसे मेरा संयम माना है, उसे मैंने कभी वैसा नहीं माना। जितना अंकुश मैं रख सका हूँ, उतना यदि न रख सका होता, तो मैं पशु से भी गया-बीता होकर अब तक कभी का नाश को प्राप्त हो गया होता। मैं अपनी खामियों को ठीक-ठीक जानता हूँ और कह सकता हूँ कि उन्हें दूर करने के लिये मैंने भारी प्रयत्न किए हैं। मैं उसीसे इतने साल तक इस शरीर को टिका सका हूँ।

इस बात का भान होने के कारण और इस प्रकार की संगति अनायास मिल जाने के कारण मैंने एकादशी के दिन फलाहार उपवास शुरू किए। जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियों का भी पालन करने लगा। परंतु संयम की दृष्टि से फलाहार और अन्नाहार में मुझे बहुत भेद न दिखाई दिया। अनाज के नाम से हम जिन वस्तुओं को जानते हैं, उनमें से जो रस मिलता है, वही फलाहार से भी मिलता है; और आदत पड़ने के बाद मैंने देखा कि उनसे अधिक रस मिलता है। इस कारण इन तिथियों के दिन सूखा उपवास अथवा एक बार भोजन करने को अधिक महत्व देता गया। फिर प्रायश्चित आदि का भी कोई निमित्त मिल जाता तो उस दिन भी एक बार भोजन कर डालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि

शरीर के अधिक स्वच्छ होने से रसों की वृद्धि हुई। भूख बढ़ी और मैंने देखा कि उपवास आदि जहाँ एक ओर संयम के साधन हैं, वहीं दूसरी ओर वे भोग के साधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान हो जाने पर इसके समर्थन में उसी प्रकार के मेरे तथा दूसरों के कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि अपना शरीर अच्छा और गठित बनाना था, तथापि अब तो मुख्य हेतु था संयम को साधना और रसों को जीतना। इसलिये भोजन की चीजों में और उनकी मात्रा में परिवर्तन करने लगा। परंतु रस तो हाथ धोकर पीछे पड़े रहते। एक वस्तु को छोड़कर जब उसकी जगह दूसरी वस्तु लेता, तो उनमें से भी नए और अधिक रस उत्पन्न होने लगते। इन प्रयोगों में मेरे साथ और साथी भी थे।'''उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवास में एक बार भोजन करने में एवं दूसरे परिवर्तनों में मेरा साथ दिया था।''''''हम दोनों इन परिवर्तनों के विषय में चर्चा करते और नए परिवर्तनों में पुराने रसों से भी अधिक रस पीते। उस समय तो ये संवाद बड़े मीठे लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उनमें कोई बात अनुचित है। पर अनुभव ने सिखाया कि ऐसे रसों में गोते खाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को रस के लिये नहीं, बल्कि शरीर को क़ायम रखने के लिये भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय जब शरीर के और शरीर के द्वारा आत्मा के दर्शन के लिये काम करती है, तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं और तभी कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक रूप में अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करने के लिये जितने प्रयोग किए जायँ, उतने ही कम हैं। और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरों की आहुति देनी पड़े तो भी हमें उसकी परवा न करनी चाहिए। अभी आजकल उल्टी गंगा बह रही है। नाशवान शरीर को शोभित करने, उसकी

आयु का बढ़ाने के लिये हम अनेक प्राणियों का बलिदान करते हैं। पर यह नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनों का हनन होता है। एक रोग मिटाते हुए इन्द्रियों के भोगों को भोगने का उद्योग करते हुए हम नए-नए रोग पैदा करते हैं और अंत को भोग भोगने की शक्ति भी खो बैठते हैं। और सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस क्रिया को अपनी आँखों के सामने होते देखते हुए भी हम उसे देखना नहीं चाहते।

× × × ×

जो लोग ब्रह्मचर्य्य का पालन करने की इच्छा रखते हैं उनको यहाँ एक चेतावनी देने की आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य्य के साथ भोजन और उपवास का निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है कि इसका मुख्य आधार हमारा मन है। मलिन मन उपवास से शुद्ध नहीं होता। भोजन का उसपर असर नहीं होता। मन की मलिनता विचार से, ईश्वर-ध्यान से और अंत को ईश्वर के प्रसाद से ही मिटती है; परंतु मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। और विकारयुक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश में रहता है। सविकार मन अनेक प्रकार के स्वाद और भोगों को खोजता रहता है। फिर उस भोजन और भोगों का असर मन पर होता है। इस अंश तक भोजन पर अंकुश रखने की और निराहार रहने की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।